समता : दर्शन और व्यवहार

व्याख्याता :

आचार्य श्री नानालालजी महाराज

आकलनकर्त्ता :

शान्तिचन्द्र मेहता

एम०ए०, एल०एल०बी०, एडवोकेट, चित्तौडगढ

प्रकाशक :

अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

भीनासर

प्रकाशकीय

समता जीवन है, जीवन का स्वभाव है। स्वभाव का अभाव नहीं होता। स्वभाव साहजिक होता है, आरोपित नहीं होता। स्वभाव पाया नहीं जाता, स्वतः प्रगट है। इसीलिये जीवन के समग्र प्रयास साहजिक रूप से समता के लिये होते हैं। समता-उपलब्धि जीवन-प्रक्रिया का सार है, परिश्रम है और पुरुषार्थ है।

अपने समग्र स्वरूप में आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा मे जानना, प्राप्त करना अर्थात् स्वानुभूति से प्रकाशमान होना, स्व को प्रकाशित करना — समता है। आसक्ति ही आत्मा के स्वकेन्द्र से च्युति का कारण है। आसक्ति के फलस्वरूप एक के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष हो ही जाता हैं। राग आकर्षण का सिद्धान्त है और द्वेष विकर्षण का। स्व-पर, अपना-पराया, राग-द्वेष, आकर्णण-विकर्षण के कारण ही जीवन मे सदैव सघर्ण अथवा द्वन्द्व की स्थिति बनी रहती है और उससे क्षोभ-सकल्प-विकल्पो का क्रम चलता रहता है। यद्यपि आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्ति समता की स्थिति मे रमण करती है। लेकिन राग-द्वेष आदि की उपस्थिति किसी भी स्थायी सन्तुलन की स्थिति को सभव नहीं होने देती। यही विषमता का मूल आधार है।

अनादिकालीन कर्मजन्य सशरीरी आत्मा बाह्य उत्तेजनाओं एव सवेदनाओ से प्रभावित होने के कारण नगण्य, महत्त्वहीन, परपदार्थों मे स्व का आरोपण कर साहजिक समता के केन्द्र-बिन्दु, स्व का प्रकटरूप मे अपलाप अथवा परित्याग कर देता है और उन पर पदार्थों से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये स्व का उपरी तौर पर विसर्जन ही समता का अभाव और विपमता की प्रवृत्ति है।

विपमता की वृत्ति मानव के मन, वचन, काया के आतरिक आयामो तक मे समाविष्ट होने से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एव विश्व को व्याकुल बनाये हुए है। मानव-जीवन को स्पर्श करने वाले व्यवहार और व्यवस्थातत्र मे विशृखलता व्याप्त है और इसके फलस्वरूप मूक प्राणियो का सहार, शोपण एव भौतिक सपदाओ के सग्रह के स्वर मुखर है।

इन से परित्राण का उपाय स्व की ओर प्रत्यावर्तन है। यह प्रत्यावर्तन ही समतादर्शन है। दार्शनिक दृष्टि से ममत्व के शमनपूर्वक समता की साधना अनासक्त योग एव निष्काम कर्म की सिद्धि है। सत् विचार, वाचा और व्यवहार समता-साधना का सम्यक् आधार है।

समता विचार भी है और आचार भी है। वैचारिक समता का आधार है प्राणीमात्र के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना एव स्वय अपने लिये किसी को कष्ट न पहुँचाना।

विचार की सफल परिणति सत् आचार मे है। मानव सयम को महत्त्व देते हुए समवितरण के लिये प्रवृत्त हो। अपने दायित्व के अनुरूप सम्यक् चेष्टा करे। अधिकार पद की आकांक्षा से उदासीन रह कर कर्त्तव्य का महत्वपूर्ण माने और कर्त्तव्य-तत्पर बने।

परम् श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० ने अपने प्रवचनो मे समता दर्शन के माध्यम से जीवन की विपमता और समाधान रूप समता का विशद विवेचन किया है। समता-सिद्धान्त-दर्शन, जीवन दर्शन, आत्मदर्शन एव परमात्मदर्शन के चार दार्शनिक स्तभों पर समता का जो व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, वह आज की विपम

परिस्थितियो मे व्यक्ति से लेकर विश्व तक मे सत् परिवर्तन की क्रान्तिकारी क्षमता रखती है। आचार्यश्रीजी द्वारा निर्देशित आचरण के आधारभूत २१ सूत्र और समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी के रूप मे जीवन-साधना के तीन सोपान इस विचारधारा की व्यावहारिकता को सदिग्ध बनाते हैं। यह एक व्यावहारिक समाज-दर्शन के रूप मे सामने है। यदि इस दिशा मे प्रयास किया जाये तो 'समता समाज' की विचारधारा साकार हो सकती है।

आचार्यश्रीजी के प्रवचनों के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक 'समता : दर्शन और व्यवहार' का सपादन श्री शान्तिचन्द्र मेहता एम०ए०,एल०-एल०बी०, एडवोकेट ने मनोयोगपूर्वक किया है। सपादक महोदय ने आचार्यश्रीजी के विचारों को लाक्षणिक शैली एव प्राजल भाषा मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आचार्यश्रीजी के विचारों के प्रस्तुतिकरण मे मूल व्याख्याओं के भाव और भाषा का ध्यान रखा गया है फिर भी भाव-भाषा-सम्बन्धी कोई अनौचित्य दिखाई पडे अथवा भावाभिव्यजना मे न्यूनाधिकता प्रतीत हुई हो तो उसके लिये उत्तरदायी आकलनकर्त्ता एव प्रकाशक है। परम पूज्य आचार्यश्रीजी एव विज्ञ पाठकों से हम इस हेतु क्षमाप्रार्थी हैं।

आकलनकर्त्ता श्री शातिचन्द्र जी मेहता ने आचार्यश्रीजी के प्रवचनों मे से समता दर्शन के विचारो का सकलन करके भाव व भाषा को अधिकाशतः सुरक्षित रखते हुए जो ग्रन्थ का सारयुक्त सपादन किया है, तदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

हम शिक्षा-निदेशक राजस्थान श्रीयुत रणजीतसिंहजी कुम्भट आई० ए० एस० के विशेष आभारी है, जिन्होने अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी प्रस्तावना लिखने के हमारे निवेदन को स्वीकृत किया।

सुन्दर व आकर्षक मुद्रण के लिये हम मेहता फाईन आर्ट प्रेस, कलकत्ता के कार्यकर्त्ताओं एव सचालक श्री मदन कुमारजी मेहता का सधन्यवाद आभार मानते हैं।

ग्रन्थ के सम्बन्ध मे विद्वान पाठकों के सुझाव भी हम साग्रह आमन्त्रित करते है। यदि पुस्तक पाठको को रुचिकर एव जीवन उन्नायक प्रतीत हुई तो सपादक और प्रकाशक अपने प्रयास को सार्थक समझेंगे।

निवेदक :

जुगराज सेठिया,
मत्री

भॅवरलाल कोठारी, सहमत्री — चपालाल डागा, सहमत्री
कालूराम छाजेड, सहमत्री — पृथ्वीराज पारख, सहमत्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ

प्रस्तावना

आचार्यश्री नानालालजी महाराज साहब के प्रवचनों के सकलन 'समता : दर्शन और व्यवहार' पर दो शब्द लिखना धृष्टता नहीं तो और क्या है? परन्तु ग्रन्थ के प्रकाशक एव अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैनसघ के सहमत्री श्री भँवरलालजी कोठारी भी मानते कब हैं? आचार्यश्रीजी के प्रवचन के कुछ अश उनके चरणो मे बैठकर सुने है। उन पर अपनी अज्ञता की छाप लगाऊँ, यह असह्य है। परन्तु प्रसन्नता है कि अज्ञता-प्रदर्शन का भी आज मौका लगा। तथा-कथित पडिताई का प्रदर्शन तो सब करते हैं परन्तु अज्ञता-प्रदर्शन का सुअवसर भी कदाचित् पुण्ययोग से ही मिलता है।

वर्तमान जीवन मे व्यक्ति से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक व्याप्त विषमता एव उसकी विभीषिका, विग्रह एव विनाश की कगार, असतुलन एव आन्दोलन आचार्यश्रीजी ने अपनी आत्मदृष्टि से देखा एव मानवता के करुण क्रन्दन से द्रवित हो उसको बचाने के लिये उपदेशामृत की धारा प्रवाहित की है।

समता-सिद्धान्त नया नही है—वीर-प्ररूपित वचन है व जैनदर्शन का मूलाधार है। परन्तु इसे धर्म की सकीर्णता मे बधा देख व उसकी

व्यापक महत्ता का ज्ञान जन जन को न होने से इसे नये सदर्भ व दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। यह किसी वर्ग विशेष के लिये नही वरन् प्राणीमात्र के लिये है। यदि मानवता के किसी भी वर्ग ने समता-सिद्धान्तको न समझ कर विषमता की ओर कदम बढाये तो समग्र विश्व के लिये खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर व्यापक मानव-धर्म के रूप मे समतादर्शन को प्रतिपादित किया है।

समता जीवन की दृष्टि है। जैसी दृष्टि होगी वैसा ही आचरण होगा। जैसा मानव देखता है वैसी ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। यदि एक साधारण रस्सी को मनुष्य भ्रमवश साप समझ ले तो उसमे भय, क्रोध व प्रतिशोध की प्रतिक्रिया होती है। यदि कदाचित् साप को ही रस्सी समझ ले तो निर्भीकता का आचरण होता है। यही सिद्धान्त जीवन के हर पहलू पर लागू होता है। यदि किसी भी वस्तु को सम्यक् व सहीरूप से समझने की दृष्टि रखें व उसी रूप से आचरण करने का प्रयत्न करें तो सामाजिक असन्तुलन, विग्रह व विषमता समाज मे हो नही सकती। यही आचार्यश्रीजी का मूल सदेश है।

आचार्यश्री ने सिद्धान्त प्रतिपादित कर छोड दिया हो ऐसी बात नहीं है। सिद्धान्त को कैसे व्यवहार मे परिणत किया जाय इस पर भी पूरा विवेचन किया है। सिद्धान्तदर्शन के अतिरिक्त जीवनदर्शन, आत्मदर्शन व परमात्मदर्शन के विविध पहलुओ मे कैसा आचरण हो इसका पूरा निरूपण किया है।

आज की युवा पीढी पूछती है— धर्म क्या है ? किस धर्म को मानें ? मन्दिर मे जाये या स्थानक मे—? अथवा आचरण शुद्धता लायें ? धर्म-प्ररूपित आचरण आज के वैज्ञानिक युग मे कहां तक ठीक है व इसका क्या महत्त्व है ? कतिपय धर्मानुरागियो के 'धर्माचरण' व 'व्यापाराचरण' मे विरोध को देखकर भी युवा पीढी धर्मविमुख होती जा रही है। धर्म ढकोसले मे नही है। आचरण मे है। धर्म जीवन का अग है। समता धर्म का मूल है। इस तर्कसगत विवेचन व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आचार्यश्री ने आधुनिक पीढी को भी आकर्षित करने का प्रयत्न किया है।

स्वाद चखने मे है देखने मे नही। इस पुस्तक का महत्त्व पढने मे नहीं आचरण मे है। आचरण की कोई सीधी सरल सडक नहीं है। सयम सीढी है और असयम एक ढलान। सीढी पर चढने मे जोर लगाना पडता है पर ढलाव मे कुछ नहीं। ढुलकने मे जैसे बालक को आनन्द आता है वैसे ही असयम मे अधिकतर मस्त रहते हैं। ढुलकना अच्छा लगता है जबतक गर्त मे न गिर जाये। गर्त मे गिरने पर ही सीढी का महत्त्व मालूम होता है। जिन्होने देखा व जाना, वे सीढी का मार्ग बताते हैं। निर्णय हमे करना है कि समता की सीढी पर चढना है या विषमता मे लुढकना है। जो चढना चाहते हैं उनके लिये यह पुस्तक अमृतपान है। आचार्यश्री का आह्वान है—पीओ और आगे बढो !

बीकानेर

रणजीत सिह कुम्भट

शिक्षा-निदेशक

प्राथमिक एव माध्यमिक शिक्षा,

राजस्थान,

समता-सूक्त

"समतामय जीवन हो सबका
समता हो जीवन का कर्म
रम जाये अन्तर बाहर में
समता का शुभ मगल मर्म"

"समता से दिग्भ्रान्त विश्व मे,
आओ समता पाठ पढ़ें।
सहज सुमति से समदर्शन पर,
आओ हम सब साथ बढें।"

समता का विस्तार, विषमता
के इस युग मे करना है
'गुरु नाना" के समदर्शन से,
परम् "शान्ति" को वरना है।

—शान्ति मुनि

अनुक्रमणिका

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

समता : दर्शन और व्यवहार

: १ :

वर्तमान विषमता की विभीषिका

आज सारे ससार मे विषमता की सर्वग्राही आग धू-धू करके जल रही है। जहा दृष्टि जाती है, वहीं दिखाई देता है कि हृदय मे अशान्ति, वचन मे विशृ खलता एव जीवन मे स्वार्थ की विक्षिप्तता ने सब ओर मनुष्यता के कोमल और हार्दिक भावो को आच्छादित कर दिया है। ऐसा लगता है कि चचलता मे गोते लगाता हुआ मनुष्य का मन भ्रष्टता एव विकृति के गर्त की ओर निरन्तर अग्रसर होता ही चला जा रहा है।

सस्कृति एव सभ्यता के विकास का मूल विन्दु ही यह होता है कि सुसस्कृत एव सभ्य मनुष्य पहले दूसरों के लिये सोचे—दूसरो के लिये कुछ करे और अपने लिये वाद मे। अपने स्वार्थ को छोडकर जो जितना अधिक पर-हित मे अपने आपको लगा देता है, उसे उतना ही अधिक सस्कृत एव सभ्य मानना चाहिये। किन्तु वर्तमान विपम वातावरण की सवसे वडी विडम्बना यही है कि मनुष्य अधिकाशतः केवल अपने और अपने लिये सोचता है—अपने स्वार्थो की ही येनकेन प्रकारेण पूर्ति करना चाहता है। आपाधापी मे जैसे वह अपनी अव तक की विकसित समूची सस्कृति तथा सभ्यता को भी भुलाता जा रहा है।

जब इस प्रकार मनुष्य अपनी सस्कृति और सभ्यता को भुला देगा, अपनी आस्था एव निष्ठा को खो देगा और अपनी चेतना के दीप को बुझा देगा तो क्या वह पुनः अपने आदिमकालीन अविकास मे नही डूब जायगा ? विचारणीय है कि आज की यह विपमता मनुष्य को कहाँ ले जायगी ?

सर्वव्यापी विपमता

अमावस्या की मध्य रात्रि का अन्धकार जैसे सर्वव्यापी हो जाता है, वैसी ही सर्वव्यापी यह विषमता हो रही है। क्या व्यक्ति के हृदय की आन्तरिक गहराइयो मे तो क्या वाह्य ससार मे व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र एव समूचे विश्व मे—प्रायः यह विपमता फैलती जा रही है—गहराती जा रही है।

विषभरी यह विषमता सवसे पहले मानव-हृदय की भीतरी परतो मे घुस कर उसे क्षत-विक्षत बनाती है और हृदय की सौजन्यता तथा शालीनता को नष्ट कर देती है। जो हृदय समता की रसधारा मे समरस वन कर न केवल अपने भीतर बल्कि बाहर भी सव ठौर आनन्द की उमग उत्पन्न कर सकता है, वही हृदय विपमता की आग मे जल कर स्वय तो काला कलूटा बनता ही है, किन्तु उस कालिमा को बाह्य वातावरण मे भी चारो ओर विस्तारित कर देता है।

विचार सर्वप्रथम हृदय-तल से ही फूटता है और इस प्रस्फुटन का रूप वैसा ही होता है, जैसा कि उसे साधन मिलता है। धरती एक सी होती है, बरसात भी एक सी—किन्तु एक ही खेत मे अलग २ एक ओर यदि गन्ना बोया जाय तथा दूसरी ओर अफीम का पौधा लगाया जाय तो दो विभिन्न पौधो का प्रस्फुटन ऐसा होगा कि एक मिष्ट तो दूसरा विष, एक जीवन का वाहक तो दूसरा मृत्यु का।

इसी प्रकार दो हृदय एक से हों किन्तु एक मे समता का बीज बोया जाय तथा दूसरे मे विषमता का तो दोनो की विचार-सरणि एकदम

विरुद्ध होगी। समता का विचार जहां जीवन का आह्वान करता है, वहाँ विपमताजन्य विचार मृत्यु को बुलाता है।

विचार प्रकट होता है वाणी के माध्यम से और विपम विचार वाणी को भी विषम वना देता है एव कार्य मे भी वैसी ही छाप छोडता है।

फैलाव व्यक्ति से विश्व तक

यह विषमता इस तरह व्यक्ति के हृदय मे पोषण प्राप्त करके जव वाहर फूटती है तो उसका सबसे पहला आक्रमण परिवार पर होता है, क्योकि परिवार ही आधारगत घटक है। परिवार मे जो रक्त-प्रभाव का महज स्नेह होता है, वह भी विषम विचारो एव वृत्तियों मे पडकर विषाक्त वन जाता है।

परिवार की सहृदयता एव स्नेहिल वृत्ति को लूटती हुई विषमता जव आगे फैलती है तो वह समाज और राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों मे भेद-भाव व पक्षपात की असख्य दीवारें खडी कर देती है तो पग २ पर पतन की खाइयाँ खोद देती है। जिन क्षेत्रो से वास्तव मे दुर्वलता के क्षणो मे मनुष्य को सम्हलने और उठने का सहारा मिलना चाहिये, वे ही क्षेत्र आज उसकी अपनी ही लगाई हुई आग मे जलते हुए उसकी जलन मे भी वृद्धि ही कर रहे हैं।

सहकार के सूत्र मे अतीत से वधे हुए भारत पर ही यदि दृष्टिपात करें तो क्या यह स्पष्ट नहीं होगा कि ज्यो २ सव ओर विपमता पसरती जा रही है त्यों २ सरकार की कडियाँ ही नही टूट रही हैं वल्कि मानवीय सद्गुणों का शनैः शनैः ह्रास भी होता चला जा रहा है। विपमता के वशीभूत होकर क्या आज सामान्यतया भारतीय जन हृदयहीन, गुणहीन और कर्त्तव्यहीन नहीं होता जा रहा है ?

जहाँ विभिन्न राष्ट्र विपमता के जाल मे ग्रस्त होकर अपने स्वार्थो को अन्तर्राष्ट्रीय हित से ऊपर उठाते जा रहे हैं तो उसका स्वाभाविक

परिणाम सबके सामने है। वियतनाम युद्ध जो अभी २ समाप्त हुआ है, क्या मानव सभ्यता के भाल पर सदैव कलक के रूप मे नहीं बना रहेगा, जहाँ व्यक्तियो और राष्ट्रों की पशुता ने नगा नृत्य किया था। युद्ध और विनाश —यह विश्वगत विषमता का खुला परिणाम होता है।

और नित प्रति प्रकट होने वाले परिणामों से स्पष्ट रूप मे जाना जा सकता है कि व्यक्ति से लेकर विश्व तक समूचे रूप मे प्रायः यह विपमता फैलो हुई है। इसने विश्व के कोने २ मे आत्मीयता का मरण घटा वजा दिया है।

वहुरूपो विषमता

जितने क्षेत्र—उससे कई गुनी भेद की दीवारें—इस विषमता के कितने रूप है—यह जानना भी आसान नही है।

राजनोति के क्षेत्र मे नजर फैलावे तो लगता है कि सैकडों वर्षो के कठिन सघर्ष के बाद मनुष्य ने लोकनत्र के रूप मे समानता के कुछ सूत्र बटोरे, किन्तु विषमता के पुजारियो ने मत जैसे समानाधिकार के पवित्र प्रतीक को भी ऐसे कुटिल व्यवसाय का साधन बना दिया है कि प्राप्त राजनीतिक समानता भी जैसे निरर्थक होती जा रही है। वैसे मत का समानाधिकार साधारण उपलब्धि नही है, इससे स्वस्थ परिवतन का चक्र घुमाया जा सकता है। किन्तु देश मे यही चक्र किस दिशा मे घुमाया गया और किस तरह घूम रहा है—यह सर्वविदित है।

विषमता के पक मे से राजनीति का उद्धार तो नही हुआ सो न सही, किन्तु वह तो जब इस दल-दल मे गहरी डूबती जा रही है, तब आर्थिक क्षेत्र मे समता लाने के सशक्त प्रयास किये जा सकें—यह और भी अधिक कठिन हो गया है। राजनीतिक स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत मे आर्थिक प्रगति के सारे दावो के बावजूद इस क्षेत्र की विषमता बेहद बढी है। एक ओर भव्य भवनो मे ऐश्वर्य तथा विलास के झूलो मे झूलते—इठलाते हुए अति अल्पसख्यक नागरिक तो दूसरी ओर जीवन के आधार-

भूत आवश्यक पदार्थों —साधारण भोजन वस्त्र एव निवास से भी वचित कठिनाइयो एव कष्टों मे जर्जर बने करोडों नर-ककालों का विवश और असहाय समूह। यह कैसी दर्दनाक विपमता है?

आर्थिक विपमता की विषमतम स्थितियों मे भूलते भटकते समाज मे कहाँ खोजे मनुष्यता की मृदुल भावना को, कहाँ करें सौम्य एव सरलता से परिपूरित समता के दर्शन? जो सम्पन्न वर्ग है, उसमे जागृति लाना और सेवा की भावना भरना कठिन लगता है, क्योकि जो सम्पन्नता उसे किसी भी आधार पर प्राप्त हुई है, उसके आनन्दोपयोग से वह अपने आपको क्यो विलग करे? भोगग्रस्त उसकी चेतना शिथिल और श्लथ हो रही है।

आध्यात्मिक क्षेत्र भी अछूता नहीं

तो दूसरी ओर दलन, दमन, शोपण और उत्पीडन की कठिन चोटो को झेलता हुआ मायूस इन्सान विवशता के भार से दवता हुआ प्रतिपल अपनी स्वस्थ चेतना को खोता हुआ चला जा रहा है जडत्व मे ढलता जा रहा है, तो क्या उसके कुप्रभाव से धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र भी अछूने रह सकेंगे? आत्मविस्मृति से आत्मानुभूति की जागृति क्या कठिनतम नहीं वन जायगी?

सम्पन्न वर्ग का चैतन्य जड के ससर्ग से जड हुआ जा रहा है तो अभावग्रस्त वर्ग का चैतन्य जड के अभाव मे जड हुआ जा रहा है—यह कैसी परिणति है? जड का मादक असर जितना वढता है, दुर्गुणों की ग्रस्तता उतनी ही अधिक फैलती है और इसी परिमाण मे चेतना-शक्ति दुर्वल होती चली जाती है। चेतनाहीनता याने सुशुप्तता और सुगुप्तता याने जागृति का अभाव—फिर भला ऐसे समाज मे जन्मे व्यक्ति धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे पहुच कर भी कितनी अपनी और कितनी दूसरो की जागृति साध सकेंगे?

त्रिधर्मी विषमता

आज विषमता मनुष्य के मन की गहराइयों के भीतर पैठ कर भीतर ही भीतर समाती जा रही है। निश्छल मन छल के तारों मे उलझता—कसता जा रहा है। अन्तर सोचता कुछ है, किन्तु उसका प्रकटीकरण किसी अन्य रूप मे ही होता है। यह द्वैतभरा व्यवहार मनुष्य को सत्य से विमुख बनाता जा रहा है। जहाँ छल आ गया हो तो वहां सत्य रहेगा ही कहाँ ? यदि सत्य नही तो स्वपर का शिव कहाँ और आत्मा की सुन्दरता कहां ? श्रीगणेश नहीं तो प्रगति की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?

विगति की ओर अवश्य ही मनुष्य औंधा मुँह किये भाग रहा है—सबसे पहले और मूल मे अपने मन को बिगाड कर। ऐसा मतलबखोर मन मनुष्यता की जडों पर ही जब कुठाराघात कर देता है तो स्वस्थ विचारो की उत्पत्ति ही दुस्साध्य बन जाती है। स्वार्थ के घेरे मे जो विचार जन्म लेते है, वे उदार और त्यागमय नही होते और त्याग के बिना मन अपने मूल निर्मल स्वरूप की ऊँचाइयो मे ऊपर कैसे उठ सकता है ?

श्रीगणेश ही जहा विषमता के कुप्रभाव से विकृत भूमिका पर हो रहा हो, वहा भला आगे का विकास सुप्रभावी एव कल्याणकारी बने—इसकी आशा दुराशा मात्र ही सिद्ध होगी। जब त्यागहीन विचार वाणी मे प्रकट होगा तो वह वाणी भी त्याग की प्रेरणा कैसे दे सकेगी ? कुटिलता की ग्रन्थियो मे गु थी हुई वह वाणी जिस कर्म को जन्म देगी, वह कर्म मनुष्य को स्वार्थ और भोग के कीचड मे गहरे धसाने वाला ही तो हो सकता है।

आज विषमता मनुष्य के मन को गहराइयो मे समा रही है, वाणी के छल में फूट रही है और कर्म की प्रवचनाओ मे प्रलय ढा रही है। प्रश्न है और घहराता-गू जता हुआ प्रश्न है कि क्या होगा मनुष्य के मन, वचन और कर्म की त्रिधर्मी गति का, समाज, राष्ट्र और विश्व की प्रगति का तथा अन्तरात्मा की प्रतीति का ?

विज्ञान का विकास और विषमता

यह कहना सर्वथा उचित ही होगा कि अनियन्त्रित विज्ञान के विकास ने मानव जीवन को असन्तुलित बना दिया है और यह असन्तुलन नितप्रति विषमता को बढाता जा रहा है। विज्ञान जहाँ वास्तव मे निर्माण का साधन बनना चाहिये, वहा वह उसके दुरुपयोग से विनाश और महाविनाश का साधन बनता जा रहा है।

विज्ञान तो विशेष ज्ञान का नाम है और भला स्वय ज्ञान और विज्ञान विनाशकारी कैसे बन सकता है? उसे विनाशकारी बनाने वाला है उसका अनियत्रण अथवा उसका दुष्प्रवृत्तियों के बीच सरक्षण। उस्तरे से हजामत बनाई जाती है, मगर वही अगर बन्दर के हाथ मे पड जाय तो वह उससे किसी का गला भी काट सकता है, बल्कि वह तो गला काट ही देता है।

विषमताजन्य समाज मे विज्ञान का जितना विकास हुआ है, वह बराबर बन्दरस्वभावी लोगों के हाथ मे पडता रहा है। आखिर विज्ञान एक शक्ति है इसके नये-नये अन्वेषण और अनुसधान शक्ति के नये-नये स्रोतो को प्रकट करते हैं। ये ही स्रोत अगर सदाशयी और त्यागी लोगो के नियत्रण मे आ जाते है तो उनसे समता की ओर गति की जाकर सामूहिक कल्याण की साधना की जा सकती है। परन्तु आज तो यह शक्ति स्वार्थ और भोग के पडों के हाथो मे है, जिसका परिणाम है कि ये तत्व अधिक से अधिक शक्तिशाली होकर इस शक्ति का अपनी सत्ता और अपना वर्चस्व बढाने मे प्रयोग कर रहे है।

शक्ति स्रोतों का असन्तुलन

वैज्ञानिक शक्तियो का यह दुरुपयोग, सभी क्षेत्रो मे निरन्तर विषमता मे वृद्धि करता जा रहा है। हमारी सस्कृति का जो मूलाधार गुण और कर्म पर टिकाया गया था, वह इस असन्तुलित वातावरण के बीच उखडता जा रहा है। शक्ति-स्रोतों के इस असन्तुलन का सीधा

प्रभाव यह दिखाई दे रहा है कि योग्य को योग्य नही मिलता और अयोग्य सारा योग्य हडप जाता है। योग्य हताश होकर निष्क्रिय होता जा रहा है और अयोग्य अपनी अयोग्यता का तांडव नृत्य कर रहा है।

शक्ति स्रोतों को असन्तुलित रखने वाला मुख्य तत्व ही गुणानुसार कर्म का विभाजन होता है और जब उपलब्धियो का विभाजन लूट के आधार पर होने लगे तो लुटेरा ही लूट सकेगा साहूकार को तो मुँह की खानी ही पडेगी। लुटेरा बेझिझक होकर लूटता रहेगा तो निश्चित रूप से शक्तिया अधिक से अधिक असन्तुलित होती जायगी। अधिक से अधिक शक्ति कम से कम हाथो मे इकट्ठी होती जायगी और वे कम से कम हाथ भी खून और कत्ल करने वाले हाथ होंगे। दूसरी ओर बडी से बडी सख्या मे लोग शक्तिहीन होकर नैतिकता के अपने साधारण धरातल से भी गिरने लगते हैं। आज भौतिकता की ऐसी ही दुर्दशाग्रस्त स्थिति मे क्या समाज जकडा हुआ नही है ?

विलास और विनाश की विषमता

ससार की बाह्य परिस्थितियो मे विलास और विनाश की विषमता आज पतन के दो अलग-अलग कगारो पर खडी हुई है। विलास की कगार पर खडा इन्सान अट्टहास कर रहा है तो विनाश की कगार पर खडा इन्सान इतना व्यथाग्रस्त है कि दोनों को यह भान नहीं है कि वे किसी भी क्षण पतन की खाई मे गिर सकते हैं।

एक विहगावलोकन करें इस विषम दृश्य पर कि स्वार्थ और भोग की लिप्सा के पीछे पागलपन किस सीमा तक बढता जा रहा है ? भारतीय दर्शन शास्त्रों ने तृष्णा को वैतरणी नदी कहा है ऐसी नदी जिसका कहीं अन्त नहीं। तैरते जाइये, तैरते जाइये— न कूल, न किनारा। एक पश्चिमी दार्शनिक ने भी इसी दृष्टि से मनुष्य को उसकी स्वार्थ वृत्ति के कारण भेडिया कहा है। यह वृत्ति जितनी अनियंत्रित होती

है, उतनी ही यह विशालरूपी होती हुई अधिकाधिक भयावह होती जाती है।

वर्तमान युग मे सन्तोष की सीमाएँ टूट गई हैं और वितृष्णा व्यापक हो रही है। जिसके पास कुछ नहीं है—वह आवश्यकता के मारे कुछ पाना चाहता है, लेकिन जिसके पास काफी कुछ है, वह भी और अधिक पा लेने के लिये और पाते रहने के लिये पागल बना हुआ है। जितना वह पाता है, उसकी तृष्णा उससे कई गुनी अधिक बढती जाती है और फिर सारे कर्त्तव्यों को भूल कर वह और अधिक पाना चाहता है। सिर्फ स्वय के लिये वह पाता रहता है या यों कहे कि वह लूटता रहता है तो एक शक्तिशाली की लूट का असर हजारो के अभावों मे फूटता है। विषमता की दूरिया इसी तरह आज तीखी बनती जा रही है।

आज आदमी धन की लिप्सा मे पागल है, सत्ता की लिप्सा मे मत्त बन रहा है तो यश और झूठे यश की लिप्सा मे अपने अन्तर को कालिमामय बनाता जा रहा है। सभी जगह सिर्फ अपने लिये वह लेना ही लेना सीख गया है—भोग उसका प्रधान धर्म बन गया है, त्याग से उसकी निष्ठा उठती जा रही है और यही सारी विषमता का मूल है। आज का व्यापार और व्यवसाय इसी कारण नैतिकता की लीक से हटकर शोषण एव उत्पीडन का साधन बनता जा रहा है। धन कम हाथो मे अधिक और अधिक हाथों मे कम से कम होता जा रहा है। इसका नतीजा है कि कुछ सम्पन्न लोग विलास की कगार पर इठलाते हैं तो अधिकसख्य जन अपनी प्रतिभा, अपनी गुणशीलता और अपने सामान्य विकास की बलि चढाकर विनाश की कगार पर खडे है।

धन लिप्सा सत्ता लिप्सा मे बदल कर और अधिक आक्रामक बन रही है। आखे मूदकर सत्ता लिप्सा अपना अगुवम इस तरह गिराती है कि वहाँ दोषी और निर्दोष के विनाश मे भी कोई भेद नहीं। सत्तालिप्सु एक तरह से राक्षस हो जाता है कि उसे अपने कुर्सी से

मतलव—फिर दूसरो का कितना अहित होता है—यह सब उसके लिये वेमतलव रह जाता है। यशलिप्सा इस परिप्रेक्ष्य मे और अधिक भयानक हो जाती है। ये लिप्साये ही बडा से बडा रूप धारण करती हुई आज ससार को विषमतम बनाए हुए है।

विषमता : दुर्गुणों की जननी

मानव समाज मे जितने घातक से घातक दुर्गुण दिखाई देते हैं—यदि आप उनकी जडो को खोजने जायेगे तो वे आपको समग्र रूप से विषमता के विष वृक्ष मे मिल जायगो। यह विषमता कुछ व्यक्तियों के कुप्रयास से बनती और बढती है, लेकिन इसके कुप्रभाव से सामूहिक विगति आरम्भ होती है और यह इतनी तेज गति से चलती है कि इसके चक्र मे दोषो और निर्दोष समान रूप से पिसते चले जाते है।

यह पिसना दुतरफा होता है। व्यक्ति अपने अन्तर के जगत् मे भी पिसता है तो बाहर की दुनिया मे भी पिसता है और यहाँ आकर-एक प्रकार से भौतिकता एव आध्यात्मिकता का विभेद कटुतम बन जाता है जब कि सामान्य अवस्था मे दोनों के सम्यक् सन्तुलन से स्वस्थ प्रगति सम्पादित की जा सकती है। बाहर की दुनिया मे पीसता हुआ इन्सान विपमता के जहर को पीकर स्वय भी अधिकतर कटु और कुटिल होने लगता है। इस आपाधापी की दौड मे जो पाता है वह भी बिगडता है और जो नही पाता है, वह भी विगडता है।

अन्तर से सम्वन्धित यह विगाड इस तरह विषमता के कारण विस्तार वढाता हो जाता है। इसके विस्तार का अर्थ है—सद्गुणों की एक एक करके समाप्ति। विपमता से अधिकाधिक विपम वन कर जब इन्सान भौतिकता को पाने के लिये वेतहाशा भागता है तो भौतिक उपब्धियॉ उसे मिले या नहीं—यह दूसरी वात है लेकिन वह उस भागदौड और भगदड मे दुर्गुणो का सचय तो अवश्य ही कर लेता है। दुर्गुण अकेला नहीं आता—एक के साथ एक और एक के वाद एक—इस तरह इस गति से मनुष्यता पशुता और पैशाचिकता मे ढलती जाती है। यही कारण है कि दुर्गुणो को जननी विपमता को मानी जा सकती है।

विपमता का मूल कहाँ ?

सारभूत एक वाक्य मे कहा जाय तो इस सर्वव्यापिनी पिशाचिनी विपमता का मूल मनुष्य को मनोवृत्ति मे है। जैसे हजारों गज भूमि पर फैले एक वट वृक्ष का वीज राई जितना ही होता है, उसी प्रकार इस विपमता का वीज भी छोटा ही है, किन्तु है कठिन अवश्य। मनुष्य की मनोवृत्ति मे जन्मा और पनपा यह वीज वाह्य और आन्तरिक जगत् मे वट वृक्ष की तरह प्रस्फुटित होकर फैलता है और हर क्षेत्र मे अपनी विपमता की शाखाएँ एव उपशाखाएँ विस्तारित करता है।

इसके मूल के क्षेत्र को और भी छोटा किया जा सकता है। अधिक सूक्ष्मता से मनोवृत्तियो का अध्ययन किया जायगा तो स्पष्ट होगा कि इस भयाविनी विपमता का वीज केवल मनुष्य की भोग मनोवृत्ति मे रहा हुआ है। भोग स्वय के लिये ही होता है इसलिये भोग-वृत्ति स्वार्थ को जन्म देती है। स्वार्थ का स्वभाव सकुचित होता है—वह सदा छोटा से छोटा होता जाता है, उसका दायरा वरावर घटता ही जाता है। जितना यह दायरा घटता है, उतनी ही मनुष्यता वौनी होती है—पशुता वडी वनती जाती है।

भोगवृत्ति की तुष्टि का प्रधान आधार है परिग्रह– अपने द्रव्य अर्थ मे भी और अपने भाव अर्थ मे भी।

परिग्रह का जीवन पर प्रभाव

अपने द्रव्य अर्थ मे परिग्रह का अर्थ है धन सम्पदा। निश्चय ही सासारिक जीवन धनाभाव मे नहीं चल सकता है। जीवन-निर्वाह की मूल आवश्यकताएँ है—भोजन, वस्त्र एव निवास—जिनका सचालन धन पर ही आधारित है। इस लिये इस तथ्य को स्वीकारना पडेगा कि धन का ससारी जीवन पर अमित प्रभाव ही नहीं है, वल्कि वह उसके लिये अनिवार्य है।

अनिवार्य का अर्थ है धन के बिना इस सशरीरी जीवन को चलाना सभव नही, तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐसे अनिवार्य पदार्थ की साधारण रूप से उपेक्षा नही की जा सकती है। किसी भी दर्शन ने इसकी उपेक्षा की भी नहीं है। जो ज्ञान का प्रकाश फैलाया गया है, वह इस दिशा मे कि धन को आवश्यक बुराई मानकर चला जाय। सन्तोष, सहकार, सहयोग आदि सद्गुणो का विकास इसी आधार पर किया गया तो धन का उपयोग करने दे मर्यादाओ के भीतर और उसके दुरूपयोग को न पनपने दे।

दार्शनिको ने धन-लिप्सा के भयावह परिणामो को जाना था—इसीलिये उन्होने इस पर अधिक से अधिक कडे अकुश लगाने का विधान भी किया। धन का बाहुल्य नैतिक अर्जन से सभव नही बनता। अधिक धन का अर्थ अधिक अन्याय और उसका अर्थ है अधिक कष्ट—इस कारण एक के लिये अधिक धन का साफ अर्थ हुआ बहुतो के लिये अधिक कष्ट। अतः बहुलतया अधिक धन अधिक अनीति से ही अर्जित हो सकता है—यह पहली बात।

भोग, स्वार्थ और विषमता

दूसरे, अधिक धन की उपलब्धि का सीधा प्रभाव मनुष्य की भोगवृत्ति के उत्तेजित बनने पर पडता है। भोग अधिक—स्वार्थ अधिक और जितना स्वार्थ अधिक तो उतनो ही विषमता अधिक जटिल बनती जायगी—यह स्वाभाविक प्रक्रिया होती है।

होना यह चाहिये कि जो अधिक सद्गुणी हो, वह समाज मे अधिक शक्तिशाली हो किन्तु जहाँ धन-लिप्सा को अनियन्त्रित छोड दी जाती है, वहां अधिक धनी, अधिक शक्तिशाली और अधिक धनो, अधिक सम्माननीय का मापदड बन जाता है। इसी मापदड से विषमता का विषवृक्ष फूटता है।

शक्ति और सम्मान का स्रोत जब गुण न रह कर धन बन जाता है तो सासारिक जीवन मे सभी धन के पीछे दौडना शुरू करते है—एक गहरा ममत्व लेकर। समाज का ऐसा मूल्य निर्धारण मनुष्य को विदिशा मे मोड देता है। तब भोग उसका भगवान बन जाता है और स्वार्थ उसका परम आराध्य देव—फिर भला उसका विवेक इन घेरों से बाहर कैसे निकले और कैसे समता के स्वस्थ मूल्यों को ग्रहण करे? जब विवेक सो जाता है तो निर्णय शक्ति उभरती नहीं। निर्णय नहीं तो जीवन की दिशा नहीं—भावना का जगत् तब शून्य होने लगता है। दिशा निर्णय एव स्वस्थ भावना के अभाव मे विषमता ही तो सब ठौर फैलने लगेगी।

परिग्रह का गूढार्थः मूर्छा

"मुच्छा परिग्गहो उत्तो—" यह जैन-सूत्रो की परिग्रह की गूढ व्याख्या है। मूर्छा को परिग्रह कहा गया है। द्रव्य परिग्रह की ओर तब कदम बढते है जब पहले भाव परिग्रह जन्म लेता है और यह भाव परिग्रह है—ममत्व और मूर्छा जब मनुष्य की भावनात्मक जागृति क्षीण बनती है, उस अवस्था को ही मूर्छा कहते हैं। ममत्व मूर्छा को बढाता है।

यह मेरा है—ऐसा अनुभाव कभी अन्तर जगत् के लिये स्फूर्तिजनक नही माना जाता है। क्योंकि इसी अनुभाव से स्वार्थ पैदा होता है जिसकी परिणति व्यापक विषमता मे होती है। यह मेरा है इसे ही ममत्व कहा गया है। मेरे तेरे की भावना से ऊपर उठने मे ही जागृति का मूल मन्त्र समाया हुआ है और इसी भावना की नींव पर त्याग का प्रासाद खडा किया जा सकता है।

इस मूर्छा को मन मे न जन्मने दो, न जमने दो—फिर जिन जीवन मूल्यो का निर्माण होगा, वह त्याग पर आधारित होगा। त्याग का अर्थ है जो अपने पास परिग्रह है उसे भी परोपकार के निमित्त छोड देना

बल्कि यों कहे कि अपनी ही आत्मा के उपकार के निमित्त छोड देना। जो छोडना सीख लेता है तो उसकी तृष्णा कट जाती है और इस तृष्णा के कटने पर विषमता के मूल पर आघात होता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद

परिग्रह और परिग्रहजन्य मनोवृत्तियो मे भटकना या परिग्रह और उसकी मूर्च्छा तक से निरपेक्ष बन जाना—वास्तव मे यही जीवन का दोराहा है। एक राह प्रवृत्ति की है, दूसरी राह निवृत्ति की। निवृत्ति और समूची निवृत्ति को सभी नही अपना सकते हैं। समूची निवृत्ति साधु जीवन का अग होती है और अन्तिम रूप से वही ग्राह्य मानी गई है। किन्तु सासारिक जीवन मे न्यूनाधिक प्रवृत्ति के बिना काम नही चल सकता है। इसलिये बताया गया है कि द्रव्य परिग्रह के अर्जन की पद्धति को आत्म-नियन्त्रित बनाओ।

यह पद्धति जितनी विषमता से दूर हटेगी—जितनी समता के समीप जायगी, उतनी ही सार्वजनिक कल्याण का कारण भी बन सकेगी। इस पद्धति को नियंत्रित नियम और सयम के आधार पर ही बनाई जा सकेगी—यह नियम और सयम जितना व्यक्ति स्वेच्छा से ग्रहण करे उतना ही अच्छा है। हॉ, व्यक्ति की अज्ञान अवस्था मे ऐसे नियम और सयम को सामूहिक शक्ति से भी शुरू करके व्यक्ति जीवन को प्रभावित बनाया जा सकता है।

नियम और सयम की धारा तब ही बहती रह सकेगी जब परिग्रह की मूर्च्छा समाप्त की जाय। जीवन-निर्वाह के लिये धन चाहिये, वह निरपेक्ष भाव से अर्जित किया जाय और चारो ओर समता के वातावरण की सृष्टि की जाय—तब धन जीवन मे प्राथमिक न रहकर गौण हो जायगा। इसके गौण होते ही गुण ऊपर चढेगा—विषमता कटेगी और समता प्रसारित होगी। नियन्त्रित प्रवृत्ति और निवृत्ति की ओर गति — यह समता जीवन का आधार बन जायगा।

एक जटिल प्रश्न ?

वर्तमान विपमता की विभीपिका मे इसलिये यह जटिल प्रश्न पैदा होता है कि क्या व्यक्ति और समाज के जीवन को इस विपमता के चहुमुखी नागपाश से मुक्त बनाया जा सकता है ? क्या समग्र जीवन को न सिर्फ अन्तर्जगत् मे, बल्कि बाहर की दुनिया मे भी समता, सहयोगिता और सदाशयता पर खडा किया जा सकता है ? और क्या उल्लास, उत्साह और उन्नति के द्वार सभी के लिये समान रूप से खोले जा सकते है ?

प्रश्न उत्तर मांगता है ?

प्रश्न गहरा है—जटिल भी है किन्तु प्रबुद्ध वर्ग के सद्विवेक पर चोट करने वाला है—काश कि इसे वैसी ही गहरी अनुभूति से समझने और अपनी कार्य शक्ति को कर्मठ बनाने का यत्न किया जाय ।

यह प्रश्न उत्तर मागता है—समाधान चाहता है । यह माग गूजती है—उत्तर दीजिये, समाधान कीजिये अथवा अपने और अपने समस्त सगठनों के भविष्य को खतरे मे डालने के लिये तैयार हो जाइये ।

इस गूज को सुनिये और उत्तर तथा समाधान खोजिये । प्रश्न विपमता का है—उत्तर समता मे निहित है ।

———

:२:

जीवन की कसौटी और समता का मूल्यांकन

चेतन और जड़—इन दो तत्त्वों के मिलन का नाम ससार है। आत्मा का स्वरूप ज्ञानमय चेतना माना है, जो चेतना अनादि से जड शरीर के साथ सयुक्त है वही इस चराचर जगत् की रचना का मूल बनती है और जव साकार से हट कर निराकार आत्मा सदा के लिये परम शुद्ध बन जाती है उसे ही मोक्ष कहा है।

सामान्य रूप से जीवन से उसी अवस्था का अभिप्राय लिया जाता है जो इस ससार मे जिया जाता है। सभी प्राणियों मे मानव-जीवन की उत्कृष्टता इसी कारण बताई गई हैं कि उत्थान दिशा का समीकरण इसी जीवन मे मुख्यरूप से बनता है। इसी हेतु से जगत् मे इस जीवन के महत्त्व, एक जीवन से दूसरे जीवन के सम्बन्ध तथा समुच्चय रूप से जगत् और जीवन के विविध सम्वन्धो का विश्लेषण इस उद्देश्य से किया जाना चाहिये कि यह ससार और यह मानव जीवन परस्पर समन्वित स्थिति मे ही नहीं चले, वल्कि एक दूसरे के सभ्यक् विकास का भी कारण वन सके।

जागतिक जीवन के विभिन्न पहलू

यह सभी जानते है कि चाहे आदमी का बच्चा हो अथवा जानवर का—जन्म के समय वह निरीह और असहाय होता है। सच पूछा जाय तो जगत् मे जीवन स्नेह और सहायता के पहले चरण से ही आरम्भ होता है। यह शुभारम्भ यदि बाद मे टेठ तक अखडित रूप मे चलता रहे तो इसमे कोई सन्देह नहीं कि परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व का समग्र प्राणी-जीवन स्नेह और सहायता की भावना के साथ समता की निर्मलता मे ढलता हुआ प्रगतिशील बन सकता है और यही निर्मलता प्रत्येक आत्मा के मूल स्वरूप को भी उजागर बना सकती है।

किन्तु विडम्बना वर्तमान मे व्यक्ति एव समाज के सम्बन्धों की इस रूप मे है कि यह पहला चरण धीरे २ विकृत होता चला जाता है और स्वार्थ व असहयोग की जडता फैलती जाती है। जितनी अधिक जडता, उतनी ही अधिक असमता या विषमता और इस फैलती हुई विषमता से सघर्ष करना ही चेतनाशील जीवन का पहला कर्त्तव्य बनना चाहिये। जागतिक जीवन के विभिन्न पहलुओ को इसी सदर्भ मे देखने, उसे परिवर्तित एव विकसित करने एव सर्वत्र समतामय स्थितियो की सृष्टि करने की आज सर्वोच्च आवश्यकता है।

चेतन और जड का दर्शन

दार्शनिक दृष्टि से चेतन जब जड के शासन मे होता है तो यह उसकी पतन दशा मानी जाती है। ससार मे धन, सम्पत्ति, पौद्गलिक सुख व सत्ता-साधनो एव स्वय शरीर को भी जड माना गया है। चेतन तत्त्व जब इस जड तत्त्व के ससर्ग मे आता है तब चेतन के लिये यही आदर्श होता है कि वह जड के ससर्ग से अपनी चेतना को जडता मे न ढाले। इसीलिये जीवन का पवित्र लक्ष्य यह माना गया है कि जड के साथ रहते हुए भी चेतन अपने स्वामी स्वभाव को न भूले और जड को अपने शासन मे रखे।

इस दर्शन की तब परिणति यह होगी कि चेतन अपने ज्ञान की ज्योति को प्रदीप्त रखते हुए जड पदार्थों पर अपना नियन्त्रण एव सन्तुलन रखेगा और इसका सीधा प्रभाव यह होगा कि चेतन की हार्दिकता एव सहानुभूति चेतन के साथ होगी—जड तो जीवन सचालन का निमित्त मात्र बना रहेगा। जीवन मे जहाँ जड के प्रति ममत्व ही नही बनेगा तो फिर विषमता के जन्म लेने का सूत्र ही कहाँ उत्पन्न होगा ?

आत्म विस्मृति ही इस दृष्टि से विषमता की विडम्बना की जननी है। अपने को जब भूलते हैं तो अपने जानने, मानने और करने की क्षमता को भी भूलते है और इसी भूल का अर्थ है जीवन मे सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की क्षति। सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य का जीवन मे जबतक आविर्भाव नहीं होता तबतक विकास का मूल भी हाथ नहीं आता है। इसलिये अपने आपको समझें—अपने जीवन के मर्म को जानें—इस ओर पहले रुचि जागनी चाहिये।

मूल प्रश्न—जीवन क्या है ?

इस दिशा मे विशिष्ट सत्यानुभूति के उद्देश्य से यह नवीन सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है कि—

"किं जीवनम् ?
सम्यक् निर्णायक समतामयञ्च यत्
तज्जीवनम् ।"

जीवन क्या है ? प्रश्न उठाया गया है और उसका उत्तर भी इसी सूत्र मे दिया गया है कि जो जीवन सम्यक्, निर्णायक और समतामय है, वास्तव मे वही जीवन है।

जो जिया जाता है, वह जीवन है—यह तो जीवन की स्थूल परिभाषा है। एक आदमी को बोरे मे बाध कर पहाड की चोटी से नीचे लुढका दिया जाय तो वह बोरा ढलान से लुढकता हुआ नीचे आ जाय—यह भी एक तरह से चलना ही हुआ। वहाँ दूसरा आदमी अपनी

नपे तुले कदमो मे—अपनी सजग दृष्टि से चल कर उतरे—उसे भी तो चलना ही कहेंगे। तो दोनों तरह के चलने मे फर्क क्या हुआ? एक चलाया जाता है, दूसरा चलता है। चलाया जाना जडत्व है तो चलना चैतन्य। अब दोनो के परिणाम भी देखिये। जो बोरे मे बधा लुढक कर चलता है, वह लहूलुहान हो जायगा—चट्टानों के आघात-प्रतिघातो से वह अपनी सज्ञा भी खो बैठेगा और सभव है कि फिर लम्बे अर्से तक वह चल सकने के काबिल भी न रहे। तो जो केवल जिया जाता है, उसे केवल जडतापूर्ण जीवन ही कहा जा सकता है।

सार्थक जीवन वह है जो स्वय चले—स्वस्थ एव सुदृढ गति से चले बल्कि अपने चलने के साथ अन्य दुर्बल जीवनों मे भी प्रगति का बल भरता हुआ चले।

सम्यक् निर्णायक जीवन

जीवन की परिभाषा के अन्तर्गत निर्णायक शब्द अपेक्षा से विशेष्य के रूप मे लिया जा सकता है। इसकी व्याख्या यदि हमारी समझ मे आ गई तो हम उस शब्द के साथ लगने वाले सम्यक् विशेषण को भी अच्छी तरह समझ सकते है। वह निर्णायक शक्ति प्रत्येक जीवन मे विद्यमान है और आत्मिक जागृति के परिमाण मे यह शक्ति भी विकसित होती रहती है। निश्चय ही मानव जीवन मे निर्णायक शक्ति अधिकतर मात्रा मे होती है बशर्ते कि उस शक्ति को जगाकर उसे सही दिशा मे कार्यरत बनाई जाय।

आज निर्णायक शक्ति के कार्य को देखा जा रहा है लेकिन कर्त्ता का अंगीकार नहीं किया जा रहा है। फव्वारे छूट रहे है, फव्वारों को आप देखते है किन्तु उसे समझने का यत्न नहीं करते कि इन फव्वारों को कौन छोड रहा है? मोटरकार भाग रही है और किसी मनुष्य की दृष्टि उस पर लगी हुई है। वह कार बहुत तेज गति से जा रही है लेकिन कार चलाने वाले को सोचते हुए आप नहीं देखते। वह तो दौडना

इस दर्शन की तब परिणति यह होगी कि चेतन अपने ज्ञान की ज्योति को प्रदीप्त रखते हुए जड पदार्थो पर अपना नियत्रण एव सन्तुलन रखेगा और इसका सीधा प्रभाव यह होगा कि चेतन की हार्दिकता एव सहानुभूति चेतन के साथ होगी—जड तो जीवन सचालन का निमित्त मात्र बना रहेगा। जीवन मे जहाँ जड के प्रति ममत्व ही नही बनेगा तो फिर विषमता के जन्म लेने का सूत्र ही कहाँ उत्पन्न होगा ?

आत्म विस्मृति ही इस दृष्टि से विषमता की विडम्बना की जननी है। अपने को जब भूलते है तो अपने जानने, मानने और करने की क्षमता को भी भूलते है और इसी भूल का अर्थ है जीवन मे सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की क्षति। सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य का जीवन मे जबतक आर्विभाव नहीं होता तबतक विकास का मूल भी हाथ नही आता है। इसलिये अपने आपको समझें—अपने जीवन के मर्म को जानें—इस ओर पहले रुचि जागनी चाहिये।

मूल प्रश्न—जीवन क्या है ?

इस दिशा मे विशिष्ट सत्यानुभूति के उद्देश्य से यह नवीन सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है कि—

"किं जीवनम् ?
सम्यक् निर्णायक समतामयञ्च यत्
तज्जीवनम्।"

जीवन क्या है ? प्रश्न उठाया गया है और उसका उत्तर भी इसी सूत्र मे दिया गया है कि जो जीवन सम्यक् निर्णायक और समतामय है, वास्तव मे वही जीवन है।

जो जिया जाता है, वह जीवन है—यह तो जीवन की स्थूल परिभाषा है। एक आदमी को बोरे मे बांध कर पहाड की चोटी से नीचे लुढका दिया जाय तो वह बोरा ढलान से लुढकता हुआ नीचे आ जाय—यह भी एक तरह से चलना ही हुआ। वहाँ दूसरा आदमी अपनी

नपे तुले कदमो से—अपनी सजग दृष्टि से चल कर उतरे—उसे भी तो चलना ही कहेगे। तो दोनो तरह के चलने मे फर्क क्या हुआ ? एक चलाया जाता है, दूसरा चलता है। चलाया जाना जडत्व है तो चलना चैतन्य। अब दोनो के परिणाम भी देखिये। जो बोरे मे बधा लुढक कर चलता है, वह लहूलुहान हो जायगा—चट्टानो के आघात प्रतिघातो से वह अपनी सज्ञा भी खो बैठेगा और सभव है कि फिर लम्बे अर्से तक वह चल सकने के काबिल भी न रहे। तो जो केवल जिया जाता है, उसे केवल जडतापूर्ण जीवन ही कहा जा सकता है।

सार्थक जीवन वह है जो स्वय चले—स्वस्थ एव सुदृढ गति से चले बल्कि अपने चलने के साथ अन्य दुर्बल जीवनों मे भी प्रगति का बल भरता हुआ चले।

सम्यक् निर्णायक जीवन

जीवन की परिभाषा के अन्तर्गत निर्णायक शब्द अपेक्षा से विशेष्य के रूप मे लिखा जा सकता है। इसकी व्याख्या यदि हमारी समझ मे आ गई तो हम इस शब्द के साथ लगने वाले सम्यक् विशेषण को भी अच्छी तरह समझ सकते हैं। वह निर्णायक शक्ति प्रत्येक जीवन मे विद्यमान है और आत्मिक जागृति के परिमाण मे यह शक्ति भी विकसित होती रहती है। निश्चय ही मानव जीवन मे निर्णायक शक्ति अधिकतर मात्रा मे होती है बशर्ते कि उस शक्ति को जगाकर उसे सही दिशा मे कार्यरत बनाई जाय।

आज निर्णायक शक्ति के कार्य को देखा जा रहा है लेकिन कर्त्ता का अवलोकन नहीं किया जा रहा है। फव्वारे छूट रहे हैं, फव्वारों को आप देखते हैं किन्तु इसे समझने का यत्न नहीं करते कि इन फव्वारों को कौन छोड रहा है ? मोटरकार भाग रही है और किसी मनुष्य की दृष्टि उस पर लगी हुई है। वह कार बहुत तेज गति से जा रही है लेकिन कार चलाने वाले को दौडते हुए आप नहीं देखते। वह तो दौडता

नही है, अन्दर बैठा रहता है। भीतर बैठ कर भी वह जिस तीव्र गति से कार को दौडाता है, बताइये, वह चलाने वाले की कौन सी शक्ति है ?

यह शक्ति, ज्ञान या विज्ञान निर्णायक बुद्धि मे ही तो रहा हुआ है। अपने इस जीवन को कार की उपमा मे मान ले—फिर तुलनात्मक दृष्टि से देखें कि अगर कार चलाने वाला क्षण भर के लिये भी निर्णायक बुद्धि को खो बैठे कि कब और कैसे कार को किधर मोडनी है तो कल्पना करें कि क्या अनर्थ हो सकता है ? वह स्वय को या दूसरों को मार सकता है या दूसरी हानि कर सकता है।

जीवन सचालन और निर्णायक बुद्धि

ससार के इस रगमच पर सजीव शरीर रूपी कार न जाने कब से इधर उधर दौड रही है। शरीर आपके भी है, आपको दीखता भी है, लेकिन पहली बात तो यह कि आप यह समझने का गभीरता से प्रयास नही करते कि इस सजीव शरीर को दौडाने वाली कौन सी शक्ति है ? जब तक जीवन के सचालक की स्थिति ही समझ मे नहीं आवे तो उसकी सचालन विधि को समझना तथा उसको नियत्रित करना—यह तो आगे आगे की बात है। सचालन-विधि को सुव्यवस्थित करने और रखने वाली ही तो निर्णायक बुद्धि होती है।

सिर्फ कार की ओर देखा और चलाने वाले को नही समझा तो उससे अनर्थ की ही आशका रहेगी। इस दृष्टिभेद को गभीरता से समझना चाहिये। शरीर की सजीवता किसकी बदौलत है, उसे और उसके मूल तथा विकृत स्वभाव को नहीं समझने से जीवन विकास का सूत्र हाथ मे नही आ सकेगा। शरीर की सजीवता आत्मा मे निहित होती है, अतः सिर्फ शरीर को देखें और आत्मा को नही समझे तो भोग वृत्ति को बढावा मिलता है। जहां भोग है, वहां स्वार्थ है और स्वार्थ भ्रष्टाचार, अनीति एव अन्याय का जनक होता है। एक बार भोग मे मन रम गया तो उस दलदल से निकलना भी दुष्कर हो जाता है। उस

मूल स्थिति को समझ ले कि स्वार्थ नहीं कटता तो त्याग नही आता—त्याग नहीं तो सम्यक्, निर्णय नही, समता नही और वैसी स्थिति मे वास्तव मे जीवन ही कहाँ बनता है ?

व्यामोह, विभ्रम और विकार

आत्मानुभूति के अभाव मे अर्थात् चेतना की शिथिल या सुषुप्त अवस्था मे दृश्यमान पदार्थों के प्रति ही मानव-मन आसक्त बना रहता है। लोग अपने शरीर या अन्य शरीरो की सुन्दर छवि को देखते नहीं अघाते या धन, सम्पदा, ऐश्वर्य और सत्ता को सिर्फ अपने या अपनों के लिये ही बटोरने की ओर अन्धतापूर्वक झुक जाते है। यह क्या है ? इसे ही व्यामोह कहते हैं जो पौद्‌गलिक पदार्थो पर आसक्ति को बनाये रखना है। तब सदाचार, सहयोग, सद्‌भावना आदि के मानवीय गुणो की ओर रूचि नहीं जाती अपने भीतर झाकने की सज्ञा तक उसे पैदा नही होती। इस व्यामोह का केन्द्र जड तत्त्व होता है और जड का प्रभाव आत्मा मे भी जडता ही भरता है।

व्यामोह के विचार के कारण एक व्यक्ति यौवन काल में जितना हर्षित होता है, वृद्धावस्था मे उतना ही व्यथित भी हो जाता है। कारण शरीर की ओर उसकी दृष्टि होती है, आत्मा की ओर नही। आत्मा तो कभी वृद्ध नहीं होती—यदि सम्यक् निर्णायक बुद्धि जागृत रहे तो वह चिरयौवना रहती है।

जहाँ व्यामोह है, वहाँ विभ्रम है। व्यामोह विचार को बिगाडता है तो दृष्टि स्वयमेव ही बिगड जाती है। पीलिये का रोगी सभी रगों को पीलेपन मे ही देखने लग जाता है। कोई जैसा सोचता और देखता है, वैसा ही करने भी लगता है।

दृष्टि के बाद कृति का बिगाड शुरू होता है और विकृति विकार की वाहक बनती है। आपत्ति अकेली नही आती और विकृति अकेली नही होती। इसका असर तो बाध फूटने जैसा होता है। विकारो का

गन्दा नाला रोक हटते ही तेजी से अन्दर घुसता है और जितनी गन्दगी फैला सकता है, तेजी से फैलाता है। ऐसा तभी होता है जब कार को चलाने वाला अपनी सुधबुध खो बैठता है।

यथाशक्ति सभी निर्णायक हैं

मानव जीवन मे ही नही, प्रत्येक छोटे-मोटे जीवन मे भी यथाविकास निर्णय शक्ति समाई रहती है। जितनी आत्मानुभूति, उतनी निर्णायक शक्ति और जितनी आत्म-जागृति, उतनी ही इस शक्ति मे अभिवृद्धि होती जाती है। पशुओं के पास भी यह निर्णायक शक्ति है। पशु तो पचेन्द्रिय है किन्तु चार से लेकर नीचे तक एक इन्द्रिय वाले प्राणी जीवन मे भी अपनी विकास स्थिति के अनुसार निर्णायक बुद्धि अवश्य होती है। वनस्पति के एकेन्द्रिय जीवन मे भी देखा जाता है कि एक बढ़ता हुआ पौधा भी आने वाली आपदाओं से इधर-उधर झुककर या अन्य उपाय से किस तरह अपनी रक्षा करने का यत्न करता है?

इसी निर्णायक शक्ति के विकास का पहले प्रश्न है और बाद मे उसके सम्यक् विकास की समस्या सामने आती है। जब अन्तर मे विकास जागता है तो जीवन-शक्ति का भी उत्थान होता है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवन तक तथा वहाँ से मानव जीवन की उपलब्धि इसी क्रमिक विकास का परिणाम होता है। मानव जीवन मे भी यह निर्णायक शक्ति अधिक पुष्ट बने—अधिक सम्यक् बने—इस ओर मनुष्य के ज्ञान, दर्शन और आचरण की गति अग्रसर बननी चाहिये।

निर्णायक शक्ति के मूल की परख

निर्णायक शक्ति की जागृति और प्रगति इस ज्ञान दृष्टि पर आधारित है कि कार के चालक को समझा जाय यानि कि अन्तर के आत्म-तत्त्व को प्रतीति ली जाय। जो "मैं" के मूल को समझ लेता है, वह बाहर

दृश्यमान पदार्थो मे अपने 'ममत्व' को भी छोड देता है। जहाँ पर ममत्व छूटता है, वही से तो निर्णायक ही नही, सम्यक् निर्णायक शक्ति का उद्गम होता है। कार का चालक भी यदि ममत्व मे पड जाय कि मेरे को तो बचाऊँ और जा मेरा नही है—उसे कुचल डालू तो क्या कार की गति स्वस्थ रह सकती है ?

जड से मन को हटाकर नियमित एवं सयमित बनाया जाय तो चेतना जागृत होती है—सम्यक् निर्णायक शक्ति जागती है और इसके सजग रहते विषमता का विस्तार सभव नहीं होता। फिर तो जो विषमता होती हैं, वह भी इस शक्ति के प्रादुर्भाव से निरन्तर नष्ट होती हुई चली जाती है। समता का समरस तब व्यक्ति मे और व्यक्ति-व्यक्ति से एक ओर समाज मे तो दूसरी ओर समाज के प्रभाव से दुर्बलतर व्यक्तियो मे प्रवाहित होने लगता है तथा उस प्रवाह से जीवन के सभी क्षेत्रों मे सच्चे सुख का साम्राज्य फैल जाता है।

मूल को एक बार पकड लेने पर उसकी शाखा प्रशाखाओं या फूल पत्तों को पा लेना अधिक कठिन नहीं रहेगा। चैतन्य को याने कि स्वय को अपना शासक बनालें और जड को अपने प्रशासन मे ले लें तो जहाँ राजनीति, अर्थनीति तथा समाजनीति भी सुधर जायगी वहाँ धर्मनीति भी अपने सहज स्वरूप मे सज सवर जायगी।

अपने को देखिये : निर्णय कीजिये

जीवन क्या है ? उसे क्या होना चाहिये ? इन दोनो स्थितियो के अन्तर की जितनी गहराई से देखने एव समझने का प्रयत्न किया जायगा, उतनी हो निर्णायक शक्ति प्रबुद्ध बनती जायगी। कार वहाँ खडी है और वहाँ से उसे कहाँ ले जानी है—जब इसका ज्ञान चालक को होगा तो वह मार्ग के सम्बन्ध मे विशेष सजगता ले निणय ले सकेगा। हो सकता है—पहले उसके निर्णय मे भूल रह जाय किन्तु ठोकर खाने के बाद वह गति और प्रगति की निष्ठा से सही मार्ग जरूर खोज निकालेगा।

अपने आपको इस प्रकार भीतर घुसकर देखने से अपने मैले और आदर्श निमल स्वरूप का अन्तर समझ मे आवेगा और तब निर्णय बुद्धि सजग बनेगी। यह हो सकता है कि पहले वह मिथ्या मे भटक जाय—किन्तु चेतना और निष्ठा सुलझी हुई रही तो वह सम्यक् भी अवश्य बन जायगी। उसका यह सम्यक् मोड ही समता की ओर जीवन को मोडेगा—फिर समता की विचार और आचार मे साधना जीवन का धर्म बन जायगी।

जीवन की तब सच्ची परिभाषा प्रकट होगी। जो सम्यक् निर्णायक है और समतामय है—वही जीवन है। शेष जीवन प्राण धारण करते हुए भी इस जागृति के अभाव मे मृत के पर्यायवाची ही कहलायेंगे।

समतामय जीवन

समता शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न रूपों मे लिया जाता है। वैसे मूल शब्द सम है जिसका अर्थ समान होता है। अब यह समानता जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे किस-किस रूप मे हो—इसका विविध विश्लेषण किया जा सकता है।

सबसे पहले आध्यात्मिक क्षेत्र की समानता पर सोचें तो अपने मूल स्वरूप की दृष्टि मे सारी आत्माएँ समान होती हैं—चाहे वह एकेन्द्रिय याने अविकसित प्राणी की आत्मा हो या सिद्ध भगवान् की पूर्ण विकसित आत्मा। दोनो मे वर्तमान समय की जो विषमता है, वह कर्मजन्य है। कुविचारों एव कुप्रवृत्तियो का मैला अविकसित अवस्था मे आत्मा के साथ सलग्न होने से उसका स्वरूप भी मैला हो जाता है और जैसे मैले दर्पण मे प्रतिविम्ब नही दिखाई देता, उसी तरह मैली आत्मा भी श्रीहीन बनी रहती है। तो आध्यात्मिक समता यह है कि इस मैल को दूर करके आत्मा को अपने मूल निर्मल स्वरूप मे पहुचाई जाय।

एक एक आत्मा इस तरह समता की ओर मुडे तो दूसरी ओर परिवार, समाज राष्ट्र और विश्व मे भी ऐसा समतामय वातावरण बनाया

जाय जिसके प्रभाव से समूहगत समता भी सशक्त बनकर समग्र जीवन को समतामुखी बना दे। राजनीति मे समानता अर्थनीति मे समानता और समाजनीति मे समानता के जब पग उठाये जायेंगे और उसे अधिक से अधिक वास्तविक रूप दिया जायगा तो समता की द्विधारा बहेगी— भीतर से बाहर और बाहर से भीतर। तब भौतिकता और आध्यात्मिकता सघर्षशील न रहकर एक दूसरे की पूरक बन जायगी जिसका समन्वित रूप जीवन के बाह्य और अन्तर को समतामय बना देगा।

यह परिवर्तन समाजवाद या साम्यवाद से आवे अथवा अन्य विचार के कार्यान्वय से—किन्तु लक्ष्य हमारे सामने स्पष्ट होना चाहिये कि मानवीय गुणों की अभिवृद्धि के साथ सासारिक व्यवस्था मे अधिकाधिक समता का प्रवेश होना और ऐसी समता का जो मानव-जीवन के आभ्यन्तर को न सिर्फ सन्तुलित रखे, बल्कि उसे सयम-पथ पर चलने के लिये प्रेरित भी करे। धरातल जब समतल और साफ होता है तो कमजोर आदमी भी उस पर ठीक व तेज चाल से चल सकता है, किन्तु इसके विपरीत अगर धरातल उबडखाबड और कटीला पथरीला हो तो मजबूत आदमी को भी उस पर भारी मुश्किलों का सामना करना पडेगा। व्यक्ति की क्षमता का तालमेल यदि सामाजिक विकास के साथ बैठ जाता है तो व्यक्ति की क्षमता भी कई गुनी बढ जाती है।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध

यों देखा जाय तो समाज कुछ भी नहीं है व्यक्ति-व्यक्ति मिल कर ही तो समाज की रचना करते हैं, फिर व्यक्ति से विलग समाज का अस्तित्व कहाँ है? किन्तु सभी के अनुभव मे आता होगा कि व्यक्ति की शक्ति प्रत्यक्ष दीखती है फिर भी समूह की शक्ति उससे ऊपर होती है जो व्यक्ति की शक्ति को नियन्त्रित भी करती है। एक व्यक्ति एक सगठन की स्थापना करता है—उसके नियमोपनियम बनाता है तथा उनके अनुपालन के लिये दड व्यवस्था भी कायम करता है। एक तरह

से सगठन का वह जनक है, फिर भी क्या वह स्वय ही नियम-भग करके दड से बच सकता है ? यही शक्ति समाज की शक्ति कहलाती है जिसे व्यक्ति स्वेच्छा से वरण करता है। राष्ट्रीय सरकारो के सविधानो मे यही परिपाटी होती है।

जब-जब व्यक्ति स्वस्थ धारा से अलग हटकर निरकुश होने लगता है—शक्ति के मद मे झूम कर अनीति पर उतारू होता है, तब-तब यही सामाजिक शक्ति उस पर अकुश लगाती है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता होगा कि कई बार वह कुकर्म करने का निश्चय करके भी इसी विचार से रुक जाता है कि लोग क्या कहेगे ? ये लोग चाहे परिवार के हो—पडोस के हो—मोहल्ले, गांव, नगर या देश-विदेश के हो, इन्हे ही समाज मान लीजिये।

व्यक्ति स्वय से नियत्रित हो—व्यक्ति समाज से नियत्रित हो—ये दोनो परिपाटियाँ समता लाने के लिये सक्रिय बनी रहनी चाहिये। यही व्यक्ति एव समाज के सम्बन्धो की सार्थकता होगी कि विषमता को मिटाने के लिये दोनो ही नियत्रण सुदृढ बने।

समता मानव मन के मूल में हैं

प्रत्येक मानव अपने जीवन को सुखी बनाना चाहता है और उसके लिये प्रयास करता है, किन्तु आज की दुविधा यह है कि सभी तरह की विपमताओं के बीच सम्पन्न भी सुखी नही, विपन्न भी सुखी नही और शान्ति लाभ तो जैसे एक दुष्कर स्थिति बन गई है। इसका कारण यह है कि मानव अपने साध्य को समझने के बाद भी उसके प्रतिकूल साधनों का आश्रय लेकर जव आगे वढता है तो ववूल उगाने से आम कहाँ से फलेगा ?

समता मानव मन के मूल मे है—उसे भुला कर जव वह विपरीत दिशा मे चलता है तभी दुर्दशा आरम्भ होती है।

एक दृष्टान्त से इस मूल प्रवृत्ति को समझिये। चार व्यक्तियो को एक साथ खाने पर बिठाया गया। पहले की थाली मे हलुआ, दूसरे की थाली मे लप्सी, तीसरे की थाली मे सिर्फ गेहूँ की रोटी तो चौथे की थाली मे बाजरे की रोटी परोसी गई, तो क्या चारों साथ बैठकर शान्ति-पूर्वक खाना खा सकेंगे? ऊपरवाला नीचे वाले के साथ घमड से ऐंठेगा तो नीचे वाला भेद-भाव के दर्द से कराहेगा। इसके विरुद्ध सभी की थालियों मे केवल बाजरे की रोटी ही हो तो सभी प्रेम से खाना खा लेंगे। इसलिये गहरे जाकर देखें तो पदार्थ मनुष्य के सुख और शान्ति के कारण नहीं होते बल्कि उसके मन की विचारणा ही अधिक सशक्त कारण होती है। समता का व्यवहार करें—ऐसी जागृति होना भी अनिवार्य है।

समता का मूल्यांकन

समता या समानता का कोई यह अर्थ ले कि सभी लोग एक ही विचार के या एक से शरीर के बन जावें अथवा बिल्कुल एक सी ही स्थिति मे रखे जावें तो यह न सभव है और न ही व्यवहारिक। एक ही विचार हो तो बिना आदान-प्रदान, चिन्तन और सघर्ष के विचार का विकासशील प्रवाह ही रुक जायगा। इसी तरह आकृति, शरीर अथवा सस्कारों मे भी समान-पने की सृष्टि सभव नही।

समता का अर्थ है कि पहले समतामय दृष्टि बनें तो यही दृष्टि सौम्यतापूर्वक कृति मे उतरेगी। इस तरह समता समानता की वाहक बन सकती है। आप ऐसे परिवार को लीजिये, जिसमे पुत्र अर्थ या प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों मे हो सकते हैं किन्तु सब पर पिता की जो दृष्टि होगी, वह समतामय होगी। एक अच्छा पिता ऐसा ही करता है। उस समता से समानता भी आ सकेगी।

समता कारण रूप है तो समानता कार्यरूप, क्योंकि समता मन के धरातले पर जन्म लेकर मनुष्य को भावुक बनाती है तो वही भावुकता

फिर मनुष्य के कार्यो पर असर डाल कर उसे समान स्थितियो के निर्माण मे सक्रिय सहायता देती है। जीवन मे जब समता आती है तो सारे प्राणियो के प्रति समभाव का निर्माण होता है। तब अनुभूति यह होती है कि बाहर का सुख हो या दुःख—दोनों अवस्थाओ मे समभाव रहे—यह स्वय के साथ की स्थिति तो अन्य सभी प्राणियों को आत्म-तुल्य मानकर उनके सुख दु ख मे सहयोगी बनें—यह दूसरों के साथ व्यवहार करने की स्थिति। ये दोनों स्थितियाँ जब पुष्ट बनती है तो यह मानना चाहिये कि जीवन समतामय बन रहा है। कारण कि यही पुष्ट भावना आचरण मे उतर कर व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति की दोराहो पर विषमता को नष्ट करती हुई समता की सृष्टि करती है।

समता का आविर्भाव कब ?

समता का श्रीगणेश चू कि मन से होना चाहिये इसलिये मन की दो वृत्तियाँ प्रमुख होती है—राग और द्वेष। ये दोनो विरोधी वृत्तियाँ है। जिसे आप चाहते हैं उसके प्रति राग होता है। राग से मोह और पक्षपात जन्म लेता है। जिसे आप नही चाहते उसके प्रति द्वेष आता है। द्वेष से कलुप, प्रतिशोध और हिंसा पैदा होती है। ये दोनों वृत्तियाँ मन को चचल बनाती रहती है तथा मनुष्य को स्थिरचित्ती एव स्थिरधर्मी बनने से रोकती है। चचलता से विषमता बनती और बढती है। मन विषम तो दृष्टि विषम होगी और उसकी कृति भी विषम होगी।

समता का आविर्भाव अतः तभी सभव होगा जब राग और द्वेष को घटाया जाय। जितनी निरपेक्ष वृत्ति पनपती है, समता सगठित और सस्कारित बनती है। निरपेक्ष दृष्टि मे पक्षपात नही रहता और जब पक्षपात नही है तो वहाँ उचित के प्रति निर्णायक वृत्ति पनपती है तथा गुण और कर्म की दृष्टि से समता अभिवृद्ध होती है। अगर एक पिता के मन मे भी एक पुत्र के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेप है तो वह

स्थिति समता जीवन की द्योतक नही है। मैं सबकी आखो मे प्रफुल्लना देखना चाहूँ—मैं किसी को आख मे आसू नहीं देखना चाहूँ—ऐसी वृत्ति जब सचेष्ट बनती है तो मानना चाहिये कि उसके मन मे समता का आविर्भाव हो रहा है।

बाह्य समानता के लिये प्रयास करने से पूर्व अन्तर की विषमता नही मिटाई और कल्पना करले कि बाहर की विषमता किसी भी बल प्रयोग से एक बार मिटा भी दी गई हो तो भी विपमतामय अन्तर के रहते वह समानता स्थायी नहीं रह सकेगी। एक ध्वजा जो उच्च गगन मे वायु मडल मे लहराती है—उसकी कोई दिशा नही होती। जिस दिशा का वायु वेग होता है, वह उधर ही मुड जाती है। किन्तु ध्वजा का जो दण्ड या स्तूप होता हैं, वह सदा स्थिर रहता है। तो समता के विकास के लिये दड या स्तूप बनने का प्रयास करें जो स्थिर और अटल हो। फिर समता का सूक्ष्मतम विकास होता चला जायगा।

जीवन की कसौटी

'जीवन क्या है' के सूत्र से जीवन की कसौटी का परिचय मिलता है। जड और चेतन की स्थिति को समझते हुए राग और द्वेष की भावना से हटकर जब निर्णय शक्ति एव समता भावना पल्लवित होती है तभी जीवन मे एक सार्थक मोड आता है। अतः जीवन की कसौटी यह होगी कि किसी को जड पदार्थों पर कितना व्यामोह है और चेतन शक्ति के प्रति कितनी क्रियाशील आस्था और निष्ठा है तथा वह मन को किनना स्थिर तथा निरपेक्ष रख सकता है या मन की चचलता मे अपनेपन को भूलकर बाहरी दलदल मे फसा हुआ है? इसी कसौटी पर किसी के जीवन की सजीवता का अकन किया जा सकता है।

यही कसौटी व्यक्ति के जीवन के लिये और यही कसौटी विभिन्न प्रकार के छोटे-बडे समूहो के जीवन को आकने के लिये काम मे ली जा सकती है। इस सारी कसौटी को सार रूप मे सम और विषम रूप मे

परिभाषित की जा सकती है । जीवन मे जितनी विषमता है, वह उतना ही भटका हुआ है और जितनी समता आती है, वह उसके सच्चे मार्ग पर प्रगतिशील होने का सकेत देने वाली होती है ।

अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि

समता के दो रूप है—दर्शन और व्यवहार । अन्तर के नेत्रो की प्रकाशमय दृष्टि से देखकर जीवन मे गति करना समता दर्शन का मुख्य भाव है और यह जो गति है उससे समता के व्यवहार का स्वरूप स्पष्ट होता है । अतः अन्तर और बाह्य दोनो दृष्टियो से समतापूर्ण जीवन का सचालन करने से सार्थक जीवन की उपलब्धि हो सकती है । दर्शन की गति व्यापक नहीं हो तो व्यवहार मे भी एकरूपता नहीं आती है । इसके लिये अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि में सम्यक् समन्वय होना चाहिये ।

आप एक मकान को देखते हैं । उसमे कही पत्थर होता है, कहीं चूना, सीमेन्ट, लोहा, लकडी आदि । फिर भी उसमे रहने या बैठने वालो की स्थिति भी एक सी नही होती—अलग-अलग आकृतियाँ, वेश-भूषा आदि । फिर भी यदि अन्तर्दृष्टि मे सबके समता आ जाय तो इन विभिन्नताओं के बावजूद सारा समूह एकरूपता की अनुभूति ले सकता है । बाह्य दृष्टि की विषमता इसी भाव एव विचार समता के दृढ आधार पर समाप्त की जा सकती है ।

किन्तु जो अन्तर्दृष्टि मे शून्य रह कर केवल बाह्य दृष्टि मे भटकता है, वह विपमता को ही अधिक बढाता है । समता की साधना एकांगी नही, मन, वचन एव कर्म तीनों के सफल सयोग से की जानी चाहिये तभी बाह्य दृष्टि अपना मार्ग अन्तर्दृष्टि से पूछ कर ही चलेगी। अन्तर्दृष्टि का अनुशासन ही बाह्य दृष्टि पर चलना चाहिये ।

जितना भेद, उतनी विषमता

भौतिकता और आध्यात्मिकता मे, जड़त्व और चैतन्य शक्ति मे अथवा अन्तर और बाह्य दृष्टि मे जितना अधिक भेद होगा। उतनी ही विषमता अधिक कटु, कुटिल और कष्टदायक होगी। इनमे जितना समन्वय बढेगा, उतना ही स्वार्थ और मोह घटेगा—परिग्रह के प्रति मूर्छा एव ममत्व कटेगा तो उतने ही अशो मे सबको समान सुख देने वाली समता की सदाशयता का श्रेष्ठ विकास होगा।

जहाँ भेद है, वहाँ विकार है, पतन है। मन और वाणी मे भेद है—वाणी और कर्म मे भेद है तो वहाँ विषमता का खेद ही खेद समझिये। जीवन मे सच्चे आनन्द का स्रोत समता की तरलता से ही फूट सकेगा। 'तेरे मेरे' की जब दीवारें टूटनी है तब अर्न्तमन मे जिस विराटता का प्रकाश फैलता है, उसी प्रकाश को समता सुस्थिर, शीतल और सौख्यपूर्ण बनाती है।

जीवन को सच्चा जीवन बनावे

प्राण धारण करना मात्र ही सच्चा जीवन नहीं है—वह तो निर्णयशील एव समभावी होना चाहिये। "सम्यक् निर्णायक समतामय" जीवन की प्राप्ति का लक्ष्य जब अपने सामने रखा जायगा तो मिथ्या धारणायें निर्मूल होगी तथा ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य का निर्मल आलोक चारों ओर फैलेगा। तभी जीवन की कसौटी पर समता का भी सच्चा मूल्याकन किया जा सकेगा। एक सच्चा जीवन ही कई जीवित मृतों को सज्ञावान् बनाने मे सफल हो सकता है तो ऐसी सजीवता का प्रभाव जितना फैलेगा, उतना ही सभी क्षेत्रों मे नव-जीवन विकसित होता जायगा।

मनुष्य के मन मे और उसके बाहर परिवार से लेकर समूचे ससार मे ऐसा नव-जीवन लाने का एक मात्र उपाय है कि सभी तरह की विषमताओ पर घातक आक्रमण किया जाय और समतामय जीवन शैली का विकास साधा जाय।

समता : शान्ति, स्मृद्धि एवं श्रेष्ठता की प्रतीक

मनुष्य के मन के मूल मे रही समता ज्यों २ उभरती जायगी, वह अपने व्यापक प्रभाव के साथ मानव जीवन को भी उबारती जायगी। उसे अशान्ति, दुःखदैन्य एव निकृष्टता के चक्रवात से बाहर निकाल कर यही समता उसे शान्ति, सर्वांगीण स्मृद्धि एव श्रेष्ठता के साचे मे ढालेगी ऐसी ढलान के बाद ही मनुष्य विषमताजन्य पशुता के घेरो से निकल कर आत्मीयतापूर्ण मनुष्यता का स्वामी बन सकेगा। समता शान्ति, स्मृद्धि एव श्रेष्ठता की प्रतीक होती है—इसे कभी न भूले।

o

:३:

समता दर्शन : अपने नवीन परिप्रेक्ष्य में

समता, साम्यता या समानता मानव जीवन एव मानव समाज का शाश्वत दर्शन है। आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, राजनीतिक वा सामाजिक—सभी का समता लक्ष्य है क्योंकि समता मानव-मन के मूल मे है। इसी कारण कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की अवाप्ति सभी को अभीष्ट होती है।। जिस प्रकार आत्माएँ मूल मे समान होती है किन्तु कर्मों का मैल उनमे विभेद पैदा करता है और जिन्हे सयम और नियम द्वारा समान बनाया जा सकता है, उसी प्रकार समग्र मानव समाज मे भी स्वस्थ नियम प्रणाली एव सुदृढ सयम की सहायता से समाजगत समता का भी प्रसारण किया जा सकता है।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की माग भी उतनी ही अधिक गहरी है। काश, कि हम उसे सुन और महसूस कर सकें तथा समता दर्शन के विचार को व्यापक व्यवहार मे ढाल सकें। विचार पहले और बाद मे उस पर व्यवहार—यही क्रम सुव्यवस्था का परिचायक होता है।

वर्तमान विषमता के मूल मे सत्ता व सम्पत्ति पर व्यक्तिगत या पार्टीगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेषरूप से कारणभूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास मे बाधक है। समता ही इसका स्थायी व सर्वजन हितकारी निराकरण है।

समता दर्शन का लक्ष्य है कि समता, विचार मे हो, दृष्टि और वाणी मे हो तथा समता, आचरण के प्रत्येक चरण मे हो। तब समता, जीवन के अवसरो की प्राप्ति मे होगी, सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार मे होगी तो वह व्यवहार के समूचे दृष्टिकोण मे होगी। समता, मनुष्य के मन मे तो समता समाज के जीवन मे। समता भावना की गहराइयो मे तो समता साधना की ऊँचाइयों मे। प्रगति के ऐसे उत्कृष्ट स्तरो पर फिर समता के सुप्रभाव से मनुष्यत्व तो क्या—ईश्वरत्व भी समीप आने लगेगा।

विकासमान समता दर्शन

मानव जीवन गतिशील होता है। उसके मस्तिष्क मे नये २ विचारो का उदय होता है। ये विचार प्रकाशित होकर अन्य विचारो को आन्दोलित करते है। फिर समाज मे विचारो के आदान-प्रदान एव सघर्ष-समन्वय का क्रम चलता है। इसी विचार मन्थन मे से विचार-नवनीत निकालने का कार्य युग-पुरुष किया करते है।

कहा जाता है कि समय बलवान होता है। यह सही है कि समय का बल अधिकांशतः लोगों को अपने प्रवाह मे बहाता है, किन्तु समय को अपने पीछे करने वाले ये ही युग पुरुष होते है जो युगानुकूल वाणी का उद्घोष करके समय के चक्र को दिशा-दान करते है। इन्ही युगपुरुषो एव विचारकों के आत्म-दर्शन से समता-दर्शन का विकास होता आया है। इस विकास पर महापुरुषों के चिन्तन की छाप भी है तो समय-प्रवाह की छाप भी। और जब आज हम समता दर्शन पर विचार करें तो यह ध्यान रखने के साथ कि अतीत मे महापुरुषो ने इसके सम्बन्ध मे अपना

विचार सार क्या दिया है—यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता होगी कि वर्तमान युग के सदर्भ मे और विचारों के नवीन परिप्रेक्ष्य मे आज हम समता-दर्शन का किस प्रकार स्वरूप निर्धारण एव विश्लेषण करें ?

महावीर की समता-धारा

ऐतिहासिक अध्ययन से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि समता दर्शन का सुगठित एव मूर्त विचार सबसे पहले भगवान् पार्श्वनाथ एव महावीर ने दिया। जब मानव समाज विषमता एव हिंसा के चक्रव्यूह मे फसा तडप रहा था, तब महावीर ने गभीर चिन्तन के पश्चात् समता दर्शन को जिस पुष्ट धारा का प्रवाह प्रवाहित किया, वह आज भी युगपरिवर्तन के वावजूद प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। इस विचारधारा और उनके बाद जो चिन्तन-धारा चली है—यदि दोनों का सम्यक् विश्लेषण करके आज समता-दर्शन की स्पष्टता ग्रहण की जाय और फिर उसे व्यवहार मे उतारा जाय तो निस्सन्देह मानव समाज को सर्वागीण समता के पथ की ओर मोडा जा सकता है।

महावीर ने समता के दोनों पक्षो—दर्शन एव व्यवहार को समान रूप से स्पष्ट किया तथा वे सिद्धान्त बता कर ही नहीं रह गये किन्तु उन्होने उन सिद्धान्तों को साथ ही साथ स्वय क्रियात्मक रूप भी दिया। महावीर के बाद की चिन्तनधारा का सही अध्ययन करने के लिये पहले महावीर की समता धारा को ठीक से समझ लें—यह अधिक उपयुक्त रहेगा और समता दर्शन को आज उसके नवीन परिप्रेक्ष्य मे परिभाषित करने मे अधिक सुविधा रहेगी।

'सभी आत्माएँ समान हैं' का उद्घोष

महावीर ने समता के मूल बिन्दु को सबसे पहिले पहिचाना और बताया। उन्होंने उद्घोष किया कि सभी आत्माएँ समान हैं याने कि सभी आत्माओं मे अपना सर्वोच्च विकास सम्पादित करने की समान

पराया तो अपने और पराये का जहाँ भेद बनता है वहाँ दृष्टि-भेद रहेगा ही।

महावीर ने इस कारण मानव-मन की चचलता पर पहली चोट की क्योकि मन ही तो बन्धन और मुक्ति का मूल कारण होता है। चचलता राग और द्वेष को हटाने से हटनी है और चचलता हटेगी तो विषमता हटेगी। विषम दृष्टि हटने पर ही समदृष्टि उत्पन्न होगी।

सबसे पहले समदृष्टिपना आवे—यह वाछनीय है क्योंकि समदृष्टि जो बन जायगा तो वह स्वय तो समता पथ पर आरूढ होगा ही किन्तु अपने सम्यक् ससर्ग से वह दूसरों को भी विषमता के चक्रव्यूह से बाहर निकालेगा। इस प्रयास का प्रभाव जितना व्यापक होगा उतना ही व्यक्ति एव समाज का सभी क्षेत्रो मे चलनेवाला व्यवस्था क्रम सही दिशा की ओर परिवर्तित होने लगेगा।

श्रावकत्व एवं साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ

समदृष्टि होना समता के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का समारभ मात्र है। फिर महावीर ने कठिन क्रियाशीलता का क्रम बनाया। समतामय दृष्टि के बाद समतामय आचरण की पूर्ति के लिये दो स्तरो की रचना की गई।

इसमे पहला स्तर रखा श्रावकत्व का। श्रावक के बारह अणुव्रत बताये गये हैं जिनमे पहले के पाच मूलगुण कहलाते है एव शेष सात उत्तर गुण। मूल गुणों की रक्षा के निमित्त उत्तर गुणों का निर्धारण माना जाता है। मूल पाच व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य एव अपरिग्रह। अनुरक्षक सात व्रत है—दिशा मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदड त्याग, सामायिक, देशावकासिक, प्रतिपूर्ण पौषध एव अतिथि सविभाग व्रत।

श्रावक के जो पाच मूल व्रत है—ये ही साधु के पाच महाव्रत हैं। दोनों मे अन्तर यह है कि जहाँ श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री-

शक्ति रही हुई है। उस शक्ति को प्रस्फुटित एव विकसित करने की समस्या अवश्य है किन्तु लक्ष्य प्राप्ति के सम्वन्ध मे हताशा या निराशा का कोई कारण नही है। इसी विचार ने यह स्थिति स्पष्ट की कि जो आत्मा सो परमात्मा अर्थात् ईश्वर कोई अलग शक्ति नही, जो सदा से केवल ईश्वर रूप मे ही रही हुई हो बल्कि ससार मे रही हुई आत्मा ही अपनी साधना से जब उच्चतम विकास साध लेती है तो वही परम पद पाकर परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। वह परमात्मा सर्व शक्तिमान् एव पूर्ण ज्ञानवान् तो होता है किन्तु ससार से उसका कोई सम्बन्ध उस अवस्था मे नही रहता।

यह क्रान्ति का स्वर महावीर ने गु जाया कि ससार की रचना ईश्वर नही करता और इसे भी उन्होंने मिथ्या बताया कि ऐसे ईश्वर की इच्छा के बिना ससार मे एक पत्ता भी नही हिलता। ससार की रचना को उन्होने अनादि कर्म प्रकृति पर आधारित बताकर आत्मीय समता की जो नीव रखी—उस पर समता का प्रासाद खडा करना सरल हो गया।

सबसे पहले समदृष्टि

आत्मीय समता की आधारशिला पर महावीर ने सन्देश दिया कि सबसे पहले समदृष्टि बनो। इसे उन्होने जीवन विकास का मूलाधार बताया। समदृष्टि का शाब्दिक अर्थ है समान नजर रखना, लेकिन इसका गूढार्थ बहुत गभीर और विचारणीय है।

मनुष्य का मन जबतक सन्तुलित एव सयमित नही होता तबतक वह अपनी विचारणा के घात-प्रतिघातो मे टकराता रहता है। उसकी वृत्तियाँ चचलता के उतार-चढावों मे इतनी अस्थिर बनी रहती है कि सद् या असद् का उसे विवेक नही रहता। आप जानते हैं कि मन की चचलता राग और द्वेष की वृत्तियों से चलायमान रहती है। राग इस छोर पर तो द्वेष उस छोर पर मन को इधर उधर भटकाते है। इससे मनुष्य की दृष्टि विषम बनती है। राग वाला अपना और द्वेष वाला

पराया तो अपने और पराये का जहाँ भेद बनता है वहाँ दृष्टि-भेद रहेगा ही।

महावीर ने इस कारण मानव-मन की चचलता पर पहली चोट की क्योकि मन ही तो बन्धन और मुक्ति का मूल कारण होता है। चचलता राग और द्वेष को हटाने से हटती है और चचलता हटेगी तो विषमता हटेगी। विषम दृष्टि हटने पर ही समदृष्टि उत्पन्न होगी।

सबसे पहले समदृष्टिपना आवे—यह वाछनीय है क्योकि समदृष्टि जो बन जायगा तो वह स्वय तो समता पथ पर आरूढ होगा ही किन्तु अपने सम्यक् ससर्ग से वह दूसरों को भी विषमता के चक्रव्यूह से बाहर निकालेगा। इस प्रयास का प्रभाव जितना व्यापक होगा उतना ही व्यक्ति एव समाज का सभी क्षेत्रो मे चलनेवाला व्यवस्था क्रम सही दिशा की ओर परिवर्तित होने लगेगा।

श्रावकत्व एवं साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ

समदृष्टि होना समता के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का समारभ मात्र है। फिर महावीर ने कठिन क्रियाशीलता का क्रम बनाया। समता-मय दृष्टि के बाद समतामय आचरण की पूर्ति के लिये दो स्तरो को रचना की गई।

इसमें पहला स्तर रखा श्रावकत्व का। श्रावक के बारह अणुव्रत बताये गये हैं जिनमे पहले के पाच मूलगुण कहलाते है एव शेष सात उत्तर गुण। मूल गुणों की रक्षा के निमित्त उत्तर गुणों का निर्धारण माना जाता है। मूल पाच व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य एव अपरिग्रह। अनुरक्षक सात व्रत है—दिशा मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदड त्याग, सामायिक, देशावकासिक, प्रतिपूर्ण पौषध एव अतिथि सविभाग व्रत।

श्रावक के जो पाच मूल व्रत है—ये ही साधु के पाच महाव्रत है। दोनों मे अन्तर यह है कि जहाँ श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी,

गमन एव असीमित परिग्रह का त्याग करता है, वहाँ साधु सम्पूर्ण रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, मिथुन एव परिग्रह का त्याग करता है। नीचे का स्तर श्रावक का है तो साधु त्याग की उच्च श्रेणियों मे रमण करता हुआ समता दर्शन की सूक्ष्म रीति से साधना करता है। महावीर का मार्ग एक दृष्टि से निवृत्तिप्रधान मार्ग कहलाता है—वह इसलिये कि उनकी शिक्षाएँ मनुष्य को जड पदार्थों के व्यर्थ व्यामोह से हटाकर चेतना के ज्ञानमय प्रकाश मे लेजाना चाहती है। निवृत्ति का विलोम है प्रवृत्ति अर्थात् आन्तरिकता से विस्मृत बनकर बाहर ही बाहर मृगतृष्णा के पीछे भटकते रहना। जहाँ यह भटकाव हैं, वहाँ स्वार्थ है, विकार है और विषमता है। समता की सीमा रेखा मे लाने, बनाये रखने और आगे बढाने के उद्देश्य से ही श्रावकत्व एव साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ निर्मित की गई।

जानने की सार्थकता मानने मे है और मानना तभी सफल बनता है जब उसके अनुसार किया जाय। विशिष्ट महत्त्व तो करने का ही है। आचरण ही जीवन को आगे बढाता है—यह अवश्य है कि आचरण अन्धा न हो, विकृत न हो।

विचार और आचार में समता

दृष्टि जब सम होती है अर्थात् उसमे भेद नहीं होता, विकार नही होता और अपेक्षा नही होती, तब उसकी नजर मे जो आता है वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दूषित। वह निरपेक्ष दृष्टि स्वभाव से देखती है। विचार और आचार मे समता का यही अर्थ है कि किसी समस्या पर सोचें अथवा किसी सिद्धान्त पर कार्यान्वित करें तो उस समय समदृष्टि एव समभाव रहना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि सभी विचारों की एक ही लीक को मानें या एक ही लीक मे भेड वृत्ति से चलें। व्यक्ति के चिन्तन या कृतित्व स्वातन्त्र्य का लोप नहीं होना चाहिये बल्कि ऐसी स्वतन्त्रता तो सदा उन्मुक्त रहनी चाहिये।

चतुर्विध संघ एव समता

महावीर ने इस समता दर्शन को व्यवहारिक बनाने के लिये जिस चतुर्विध सघ की स्थापना की, उसकी आधारशिला भी इसी समता पर रखी गई। इस सघ मे साधु साध्वी, श्रावक, एव श्राविका वर्ग का समावेश किया गया। साधना के स्तरों मे अन्तर होने पर भी दिशा एक ही होने से श्रावक एव साधु वर्ग को एक साथ सघ-बद्ध किया गया। दूसरी ओर उन्होंने लिंग भेद भी नहीं किया—साध्वी और श्राविका

को साधु एव श्रावक वर्ग की श्रेणी मे ही रखा। जाति भेद के तो महावीर मूलतः ही विरोधी थे। इस प्रकार महावीर के चतुर्विध मघ का मूलाधार ही समता है। दर्शन और व्यवहार के दोनो पक्षो मे समता को मूर्त रूप देने का जितना श्रेय महावीर को है, उतना सभवतः किसी अन्य को नही दिया जा सकेगा।

समता दर्शन का नवीन प्ररिप्रेक्ष्य

युग बदलता है तो परिस्थितियाँ बदलती है। व्यक्तियो के सहजीवन को प्रणालियाॅ बदलती है तो उनके विचार और आचार के तौर-तरीको मे तदनुसार परिवर्तन आता है। यह सही है कि शाश्वत तत्त्व मे एव मूल व्रतों मे परिवर्तन नही होता। सत्य ग्राह्य है तो वह हमेशा ग्राह्य ही रहेगा, किन्तु सत्य प्रकाशन के रूपो मे युगानुकूल परिवर्तन होना स्वाभाविक है। मानव समाज स्थगित नहीं रहता बल्कि निरन्तर गति करता रहता है तो गति का अर्थ होता है एक स्थान पर टिके नही रहना और एक स्थान पर टिके नहीं रहे तो परिस्थितियो का परिवर्तन अवश्यभावी है।

मनुष्य एक चिन्तक और विवेकशील प्राणी होता है। वह प्रगति भी करता है तो विगति भी। किन्तु यह सत्य है कि वह गति अवश्य करता है। इसी गति चक्र मे प्ररिप्रेक्ष्य भी बदलते रहते हैं। जिस दृष्टि से एक तत्व या पदार्थ को कल देखा था—शायद समय, स्थिति आदि के परिवर्तन से वही दृष्टि आज उसे कुछ भिन्न कोण से देखे और कोण भी तो देश, काल और भाव की अपेक्षा से बदलते रहते है। अतः स्वस्थ दृष्टिकोण यह होगा कि परिवर्तन के प्रवाह को भी समझा जाय तथा परिवर्तन के प्रवाह मे शाश्वतता तथा मूल व्रतों को कदापि विस्मृत न होने दिया जाय। दोनों का समन्वित रूप ही श्रेयस्कर होता है।

इसी दृष्टिकोण से समता दर्शन को भी आज हमे उसके नवीन परिप्रेक्ष्य मे देखने एव उसके आधार पर अपनी आचरण विधि निर्धारित करने मे अवश्य ही जिज्ञासा रखनी चाहिये। इस अध्याय मे आगे इस जिज्ञासा से विचार किया जा रहा है।

वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक शक्ति का उभार

वैज्ञानिक साधनों के विकास ने मानव जीवन की चली आ रही परम्परा मे एक अचिन्तनीय क्रान्ति की है। व्यक्ति की जान पहिचान का दायरा जो पहले बहुत छोटा था—समय एव दूरी पर विज्ञान की विजय ने उसे अत्यधिक विस्तृत बना दिया है। आज साधारण से साधारण व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष परिचय काफी बढ गया है तो रेडियो, टेलीवीजन एव समाचार पत्रों के माध्यम से उसको जानकारी का क्षेत्र तो समूचे ज्ञात विश्व तक फैल गया है।

इस विस्तृत परिचय ने व्यक्ति को अधिकाधिक सामाजिक बनाया क्योकि उपयोगी पदार्थों के विस्तार से उसका एकावलम्बन टूट सा गया—समाज का अवलम्बन पग २ पर आवश्यक हो गया। अधिक परिचय से अधिक सम्पर्क और अधिक सामाजिकता फैलने लगी। सामाजिकता के प्रसार का अर्थ हुआ सामाजिक शक्ति का नया उभार।

तबतक व्यक्ति का प्रभाव अधिक था समाज का सामूहिक शक्ति के रूप मे प्रभाव नगण्य था। अत. व्यक्ति को सर्वोच्च प्रतिभा से ही सारे समाज को किसी प्रकार का मार्ग दर्शन सभव था। तब राजनीति और अर्थनीति की धुरि भी व्यक्ति के ही चारो ओर घूमती थी। राजतत्र का प्रचलन था और राजा ईश्वर का रूप समझा जाता था। उसकी इच्छा का पालन ही कानून था। अर्थनीति भी राजा के आश्रय मे ही चलती थी।

वैज्ञानिक विकास एव सामाजिक शक्ति के उभारने तब परिवर्तन के चक्र को तेजी से घुमाना शुरू किया।

राजनीतिक एवं आर्थिक समता की ओर

आधुनिक इतिहास का यह बहुत लम्बा अध्याय है कि किस प्रकार विभिन्न देशों मे जनता को राजतन्त्र से कठिन और बलिदानी लडाइया लडनी पडी तथा दीर्घ सघर्ष के बाद अलग २ देशों मे अलग २ समय मे वह राजतन्त्र की निरकुशता से मुक्त हो सकी। इस मुक्ति के साथ ही लोकतन्त्र का इतिहास प्रारभ होता है। जनता की इच्छा का बल प्रकट होने लगा और जन प्रतिनिध्यात्मक सरकारों की रचना शुरू हुई। इसके आधार पर ससदीय लोकतन्त्र की नीव पडी।

लोकतन्त्र की जो छोटी सी व्याख्या की गई है कि वह तंत्र जो जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के लिये हो—इस स्थिति को प्रकट करती है कि एक व्यक्ति की इच्छा नही, बल्कि समूह की इच्छा प्रभावशील होगी। व्यक्ति अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी तथा एक ही व्यक्ति एक बार अच्छा हो सकता है तो दूसरी बार बुरा भी—अतः एक व्यक्ति की इच्छा पर अगणित व्यक्ति निर्भर रहे—यह समता की दृष्टि से न्यायोचित नहीं माना जाने लगा। समूह की इच्छा यकायक नही बदलती और न ही अनुचित की ओर आसानी से जा सकती है, अतः समूह की इच्छा को प्रमुखता देने का प्रयत्न ही लोकतन्त्र के रूप मे सामने आया।

लोकतन्त्र के रूप मे राजनीतिक समानता की स्थापना हुई कि छोटे बडे प्रत्येक नागरिक को एक मत समान रूप से देने का अधिकार है और बहुमत मिलाकर अपने प्रतिनिधि का चुनाव किया जाय। यह पक्ष अलग है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर किस प्रकार अच्छी से अच्छी व्यवस्था को भी तहस-नहस कर सकते हैं, किन्तु लोकतन्त्र का ध्येय यही है कि सर्वजन हित एव सर्वजन साम्य के लिये व्यक्ति की उद्दाम कामनाओं पर नियन्त्रण रखा जाय।

चिन्तन की प्रगति के साथ इसी ध्येय को आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों मे भी सफल बनाने के प्रयास प्रारभ हुए। इन प्रयासों ने मनुष्यकृत आर्थिक विषमता पर करारी चोटें की और जिन सामाजिक सिद्धान्तों

का निर्माण किया, उनमे समाजवाद एव साम्यवाद प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तो का विकास भी धीरे २ हुआ और कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद के रूप मे इस युग मे एक पूरा जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया। युग अलग २ था, किन्तु क्रान्ति की जो धारा अपरिग्रह के रूप मे महावीर ने प्रवाहित की वैचारिक दृष्टि से कार्ल मार्क्स पर भी उसका कुछ प्रभाव था। काल मार्क्स को भी यही तडप थी कि यह अर्थ व्यक्तिगत स्वामित्व के बन्धनों से छूट कर जन-जन के कल्याण का साधन बन सके। व्यक्तिगत स्वामित्व के छूटने का अर्थ होगा परिग्रह का ममत्व छूटना। सम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व को स्थापना से धनलोलुपता नहीं रहतो है। मानवता प्रमुख रहे और धन उसके साधन रूप मे गौण स्थान पर--यह साम्यवाद का लक्ष्य मार्क्स ने बताया कि एक परिवार को तरह सारे समाज मे आर्थिक एव सामाजिक समानता का प्रसार होना चाहिये।

अर्थ का अर्थ और अर्थ का अनर्थ

सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक विकास की ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि इस प्रक्रिया मे अर्थ का भारी प्रभाव रहा है। जिस वर्ग के हाथों मे अर्थ का नियत्रण रहा, उसो के हाथों मे सारे समाज की सत्ता सिमटी रही बल्कि यों कहना चाहिये कि समाज के विभिन्न क्षेत्रों मे समता प्राप्त करने के जो प्रयत्न चले अथवा कि जो प्रयत्न सफल भी हो गये—अर्थ की सत्ता वालों ने उन्हे नष्ट कर दिया। आज भी इसी अर्थ के अनर्थ रूप जगह-जगह लोकतन्त्र की अथवा साम्यवाद तक की प्रक्रियाएँ भी दूषित बनाई जा रही हैं।

सम्पत्ति के अनुभाव का उदय तब हुआ माना जाता है जब मनुष्य का प्रकृति का निखालिस आश्रय छूट गया और उसे अर्जन के कर्मक्षेत्र मे प्रवेश करना पडा। जिसके हाथ मे अर्जन एव सचय का सूत्र रहा—सत्ता का सूत्र भी उसीने पकडा। आधुनिक युग मे पूजीवाद एव साम्राज्यवाद तक की गति इसी परिपाटी पर चली जो व्यक्तिवादी नियन्त्रण पर

आधारित रही अथवा यों कहे कि अर्थ के अनर्थ का विषमतम रूप इन प्रणालियों के रूप मे सामने आया जिनका परिणाम विश्व युद्ध, नरसहार एव आर्थिक शोषण के रूप मे फूटता रहा है।

अर्थ का अर्थ जब तक व्यक्ति के लिये ही और व्यक्ति के नियत्रण मे रहेगा तब तक वह अनर्थ का मूल भी बना रहेगा क्योंकि वह उसे त्याग की ओर बढने से रोकेगा—उसकी परिग्रह—मूर्छा को काटने मे कठिनाई आती रहेगी। इसलिये अर्थ का अर्थ समाज से जुड जाय और उसमे व्यक्ति की अर्थाकाक्षाओ को खुल कर खेलने का अवसर न हो तो सभव है, अर्थ के अनर्थ को मिटाया जा सके।

दोनों छोरों को मिलाने की जरूरत

ये सारे प्रयोग फिर भी बाह्य प्रयोग ही है और बाह्य प्रयोग तभी सफल बन सकते हैं, जब अन्तर का धरातल उन प्रयोगो को सफलता के अनुकूल बना लिया गया हो। तकली से सूत काता जाता है और कते हुए सूत से वस्त्र बनाकर किसी भी नगे बदन को ढका जा सकता है लेकिन कोई दुष्ट प्रकृति का मनुष्य तकली से सूत न कातकर उसे किसी दूसरे की आख मे घुसेड दे तो क्या हम उसे तकली का दोष मानें? सज्जन प्रकृति का मनुष्य बुराई मे भी अच्छाई को ही देखता है लेकिन दुष्ट प्रकृति का मनुष्य अच्छे से अच्छे साधन से भी बुराई करने की कुचेष्टा करता रहता है।

तो एक हो कार्य के ये दो छोर है—व्यक्ति आत्म नियत्रण एव आत्म साधना से श्रेष्ठ प्रकृतियों मे ढलता हुआ उच्चतम विकास करे और साधारण रूप से और उसको साधारण स्थिति मे सामाजिक नियत्रण से उसको समता को लीक पर चलाने की प्रणालियाँ निर्मित की जाय। ये दोनो छोर एक दूसरे के पूरक बनें—आपस मे जुडें, तव व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति का निर्माण सहज बन सकेगा।

सामान्य स्थिति अधिकाशतः ऐसी ही रहती है कि समाज के बहुसख्यक लोग सामान्य मानस के होते है जिन पर किसी न किसी प्रकार का नियत्रण रहे तो वे सामान्य गति से चलते रहते है, वरना रास्ते से भटक जाना उसके लिये आसान होता है। तो जो लोग प्रबुद्ध होते है, वे स्वय भ्रष्ट न होकर अपनी सत्चेतना को जागृत रखते हुए यदि ऐसी सामाजिक स्थितियाँ बनावें जो सामान्य जन के नैतिक विकास को प्रोत्साहित करती हो तो वह सर्वथा वाछनीय माना जायगा।

समता के समरस स्वर

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियो के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरों की सारी दिशाओं मे गु जायमान करने की आवश्यकता है। सम्पूर्ण मानव समाज ही नही, समूचा प्राणी समाज भी इन स्वरों से आल्हादित हो उठेगा। जीवन के सभी क्षेत्रो मे फैली विषमता के विरुद्ध मनुष्य को सघर्ष करना ही होगा क्योंकि मनुष्यता का इस विषम वातावरण मे निरन्तर ह्रास होता ही जा रहा है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता और बदलता रहेगा किन्तु समूचे तौर पर मनुष्यता कभी समाप्त नहीं हो सकेगी और आज भी मनुष्यता का अस्तित्व डूबेगा नही। वह सो सकती है, मर नहीं सकती और अब समय आ गया है जब मनुष्यता की सजीवता लेकर मनुष्य को उठना होगा—जागना होगा और क्रान्ति की पताका को उठाकर परिवर्तन का चक्र घुमाना होगा। क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमताजन्य सामाजिक मूल्यो को हटाकर समता के नये मानवीय मूल्यों की स्थापना। इसके लिये प्रबुद्ध एव युवा वर्ग को विशेष रूप से आगे आना होगा और व्यापक जागरण का शख फूकना होगा। जिससे समता के समरस स्वर उद्भूत हो सकें।

समता दर्शन का नया प्रकाश

सत्यांशों के सचय से समता दर्शन का जो सत्य हमारे सामने प्रकट होता है—उसे यथा-शक्ति यथासाध्य सवके समक्ष प्रस्तुत करने का नम्र प्रयास यहाँ किया जा रहा है। यह युगानुकूल समता दर्शन का नया प्रकाश फैला कर प्रेरणा एव रचना की नई अनुभूतियों को सजग बना सकेगा।

समता दर्शन को अपने नवीन एव सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य मे समझने के लिये उसके निम्न चार सोपान बनाये गये हैं :—

१—सिद्धान्त-दर्शन

मानव ही नही, प्राणी समाज से सम्बन्धित सभी क्षेत्रों मे यथार्थ दृष्टि, वस्तुस्वरूप, उत्तरदायित्व तथा शुद्ध कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान एवं सम्यक्, सर्वांगीण व सम्पूर्ण चरम विकास की साधना समता सिद्धान्त का मूलाधार है। इस पहले सोपान पर पहले सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है।

२—जीवन-दर्शन

सवके लिये एक व एक के लिये सब तथा जीओ व जीने दो के प्रतिपादक सिद्धान्तो तथा संयम नियमों को स्वयं के व समाज के जीवन मे आचरित करना समता का जीवन्त दर्शन करना होगा।

३—आत्म-दर्शन

समतापूर्ण आचार की पृष्ठभूमि पर जिस प्रकाश स्वरूप चेतना का विर्भाव होगा, उसे सतत व सत्साधना पूर्ण सेवा तथा तथा स्वानुभूति

के बल पर पुष्ट करते हुए वसुधैव कुटुम्बकम् की व्यापक भावना मे आत्म-विसर्जित हो जाना समता का उन्नायक चरण होगा।

४—परमात्मा-दर्शन

आत्म विसर्जन के बाद प्रकाश मे प्रकाश के समान मिल जाने की यह चरम स्थिति है। तब मनुष्य न केवल एक आत्मा अपितु सारे प्राणी समाज को अपनी सेवा व समता की परिधि मे अन्तर्निहित कर लेने के कारण उज्ज्वलतम स्वरूप प्राप्त करके स्वय परमात्मा हो जाता है। आत्मा का परम स्वरूप ही समता का चरम स्वरूप होता है।

इन चार सोपानों पर गहन विचार से समता दर्शन की श्रेष्ठता अनुभूत हो सकेगी और इस अनुभूति के बाद ही व्यवहार की रूप-रेखा सरलतापूर्वक हृदयगम की जा सकेगी।

●

:४:

पहला सोपान: सिद्धान्त-दर्शन

ज्ञान और चिन्तन आचरण की आधारशिलाएँ होती है। आधार-शिलाएँ सुदृढ हुई तो भवन का निर्माण भी सुदृढ होगा। शिलाएँ कच्ची हुई या ठीक तरह से नहीं जमी और उस पर यदि निर्माण कार्य कराया जायगा तो उस निर्माण की सुरक्षा की कोई गारटी नही होगी। इसी कारण सिद्धान्त क्या है, उसकी गभीरता एव सक्षमता क्या है—उसका ज्ञान एव उसकी परीक्षा पहले आवश्यक होती है।

ज्ञान वह जो इन्द्रियों व मन के ससर्ग से जाना जाता है, किन्तु जो कुछ भी इस तरह जाना जाता है वह सब कुछ सही ज्ञान नही होता। अच्छे का भी इस तरह ज्ञान होता है और बुरे का भी—इसलिये ज्ञान के साथ चिन्तन का महत्त्व है। चिन्तन ज्ञान की छलनी होती है जो सार रूप को रोक कर कचरे को बाहर फेंक देता है। चिन्तन के बिना ज्ञान की श्रेष्ठता प्रकाशित नही होती है तो स्वय की अवधारणा भी पुष्ट नही बनती है। जानने और मानने की कडियो को जोडने वाला चिन्तन ही होता है।

चिन्तन मनुष्य के मन का उन्नायक भी होता है। चिन्तक का मन जो कुछ जानता है, उस पर अपनी कसौटी से सोचता है, तब उस ज्ञान की उपादेयता पर उसको जो निष्ठा जमती है, वह सुदृढ ए

होती है। चाहे कितने ही बड़े आदमी ने एक बात कही हो और हकीकत मे वह बात कितनी ही अच्छी भी हो, लेकिन अगर उसे बन्द दिमाग से मानने की शिक्षा दी गई तो वह मानना खुद की समझ पर टिका न होने से लम्बा नहीं टिकेगा। दूसरे के जाने हुए को भी स्वय जानना—यह चिन्तन की प्रक्रिया होती है।

चिन्तन ज्ञान की कसौटी

ज्ञान जितना मन की गहरी परतों मे उतरता जायगा, उतना ही उसका वैशिष्ट्य भी प्रकट होता जायगा। जो कुछ जाना है, वह सही है या नहीं—उसकी सबसे बडी कसौटी शुद्धात्मानुभूति ही होती है और आत्मानुभूति को सजग एव सक्षम बनाने का मार्ग चिन्तन का मार्ग है। जो चिन्तन मे रमता है, निश्चित मानिये कि वह सतत जागृत भी रहता है।

समता के सिद्धान्त के सदर्भ मे ज्ञान और चिन्तन की मीमासा पर विशेष बल दिया जाय तो यह सर्वथा उपयुक्त होगा। यहा समता के दर्शन एव व्यवहार पर प्रकाश डाला जा रहा है और इसे पढकर बिना उसे अपने चिन्तन की कसौटी पर कसे ही अन्धानुकरण से जान लें, मान लें और तदनुसार करना भी शुरू कर दें तब भी उसके आचरण को स्वस्थ नहीं कहा जा सकेगा। अनजाने मे कोई दूध भी पीले तो उससे भी वाछित लाभ नहीं मिलेगा क्योंकि जो मानसिक बल उस लाभ की प्राप्ति के लिये तैयार होना चाहिये उसका वहां नितान्त अभाव होगा। जहा मानसिक बल नहीं, वह कितनी दूर तक चल सकेगा—इसका कोई भरोसा नहीं और आधे रास्ते चलकर वहा से वह भटक जाय तो यह और भी बुरा होगा।

अतः अभिप्राय यह है कि यहाँ समता के जिस सिद्धान्त दर्शन पर प्रकाश डाला जा रहा है, उसे जानें और तभी मानें जब चिन्तन की

:४:

पहला सोपानः सिद्धान्त-दर्शन

ज्ञान और चिन्तन आचरण की आधारशिलाएँ होती है। आधार-शिलाएँ सुदृढ हुई तो भवन का निर्माण भी सुदृढ होगा। शिलाएँ कच्ची हुई या ठीक तरह से नहीं जमी और उस पर यदि निर्माण कार्य कराया जायगा तो उस निर्माण की सुरक्षा की कोई गारटी नही होगी। इसी कारण सिद्धान्त क्या है, उसकी गभीरता एव सक्षमता क्या है—उसका ज्ञान एव उसकी परीक्षा पहले आवश्यक होती है।

ज्ञान वह जो इन्द्रियों व मन के ससर्ग से जाना जाता है, किन्तु जो कुछ भी इस तरह जाना जाता है वह सब कुछ सही ज्ञान नही होता। अच्छे का भी इस तरह ज्ञान होता है और बुरे का भी—इसलिये ज्ञान के साथ चिन्तन का महत्त्व है। चिन्तन ज्ञान की छलनी होती है जो सार रूप को रोक कर कचरे को बाहर फेंक देता है। चिन्तन के बिना ज्ञान की श्रेष्ठता प्रकाशित नही होती है तो स्वय की अवधारणा भी पुष्ट नही बनती है। जानने और मानने की कडियो को जोडने वाला चिन्तन ही होता है।

चिन्तन मनुष्य के मन का उन्नायक भी होता है। चिन्तक का मन जो कुछ जानता है, उस पर अपनी कसौटी से सोचता है, तब उस ज्ञान की उपादेयता पर उसकी जो निष्ठा जमती है, वह सुदृढ एव स्थायी

समता सिद्धान्त की मूल प्रेरणा

समता सिद्धान्त की मूभ प्रेरणा का स्रोत त्याग को मानना होगा। भारतीय सस्कृति मे सदा ही त्याग को इसी कारण सर्वाधिक महत्ता मिली है और इसी त्याग के तेज पर ही 'वसुधैव' कुटुम्बकम् के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जा सका था। हृदय की उदारता त्याग पर ही टिकी रह सकती है।

भोग और त्याग—इन दो स्थितियों मे समग्र जीवन का चित्र अकित किया जा सकता है जो जीवन को भोग मात्र के लिये मानता है, वह अपनी चेतना से हटकर शरीर मे बधता है, परिग्रह की मूर्छा मे बधता है और जडग्रस्त बनता है। भोग इस तरह स्वार्थ को जन्म देता है। स्वार्थ अन्धा होता है - वह अपने ही को याद रखता है— दूसरों को भुला देता है। स्वार्थ राग द्वेष की वृत्तियों को पैदा ही नहीं करता, उन्हे चिकनी बनाता रहता है। जहाँ राग द्वेष है—स्वार्थ है— वहाँ कौन सा विकार डेरा नहीं डालता ? भोग है तो विषय-वासना है, राग द्वेष है तो क्रोध मान, माया, लोभ है और जहाँ यह कुविचारो चौकडी है, वहाँ अनीति, अन्याय एव अत्याचार का कोई ऐसा अनर्थ नहीं—जिसे भोगी मनुष्य करने हिचकिचाए। यही भोग-वृत्ति जब समाज और राष्ट्र को आच्छादित करती है, तब शोषण और दमन के दौर चलते हैं—हिंसात्मक आक्रमण एव युद्ध होते हैं—तब मनुष्यता मनुष्य ही के रक्त से नहाकर पैशाचिकता का अपरूप धारण करती है।

त्याग इस वास्ते समता सिद्धान्त का केन्द्र विन्दु है - इतना महत्त्वपूर्ण कि किचित् मात्र इससे हटे कि समझिये आपने विषमता को न्यौता दे डाला। समता की साधना के समय विचार एव कार्य-दृष्टि निरन्तर इस केन्द्र विन्दु पर लगी रहनी चाहिये।

जितना त्याग : उतनी समता

जितना त्याग : उतनी समता और जितना भोग, उतनी विषमता। त्याग कितना—इसको कोई सीमा नहीं होती। एक दुःखी प्राणी को

कसौटी पर उसे कसकर आप उसे खरा जान लें। इस प्रक्रिया के वाद आपकी आचरण की जो क्रिया होगी, वह अटल होगी। तव आपका मन मंजिल पर पहुच कर ही मानेगा।

समता का सैद्धान्तिक स्वरूप

कहावत है कि किसी भी शुभ का समारम्भ स्वय से होना चाहिये और समता भी अपने से शुरू होनी चाहिये। पहले हम निज को सम बनावें—सम सोचें, सम जानें, सम माने, सम देखें, और सम करें। सम का अर्थ समान और समान याने सन्तुलित। एक तुला होती है—उसके दोनो पलडे जब बराबर होते है तो उसे सन्तुलित कहा जाता है। वह तुला बराबर तोल रही है तब उसका काटा ठीक बीचोबीच होता है। उसी तरह जब मन का कांटा भेद को छोड कर केन्द्रित रहता हुआ वस्तु स्थिति को देखता है—उस पर सोचता है और तब तदनुकूल करने का निर्णय लेता है—उस मन को ही सन्तुलित कहा जायगा।

सन्तुलन के लिये सयम आवश्यक होता है। अपने हित पर चोट भी पडे किन्तु मन का सन्तुलन न बिगडे—यह काम सयम करता है। सयम से सम किसी भी स्तर पर टूटता नही है। कारण कि जहाँ सम टूटा, विषमता कट्टर बन, मन पर टूट पडती है—स्वार्थ, भोग और विकार उसे तुरन्त घेर लेते है—फिर उस भवर से मन को निकालना दुष्कर हो जाता है। अतः एक बार साधे गये सम को सुरक्षा भी अति महत्त्व की होती है।

सयम के कल्पतरु पर अमर फल लगता है त्याग का। त्याग याने छोडना और यह छोडना अविचारपूर्ण या निष्कारण नहीं। समता लाने और उसे फैलाने के विशाल प्रयोजन के हित जो जीवन मे देना सीख जाता है—छोडने मे आनन्द अनुभव करने लग जाता है तो वह अपनी कर्मठ शक्ति को भी पहिचानने लग जाता है। त्याग निरपेक्ष दृष्टि देता है तो निष्काम कर्म की प्रेरणा। जहाँ त्याग आ जाता है, वहाँ विषमता छू भी नहीं सकेगी।

समता सिद्धान्त की मूल प्रेरणा

समता सिद्धान्त की मूभ प्रेरणा का स्रोत त्याग को मानना होगा। भारतीय सस्कृति मे सदा ही त्याग को इसी कारण सर्वाधिक महत्ता मिली है और इसी त्याग के तेज पर ही 'वसुधैव' कुटुम्बकम् के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जा सका था। हृदय की उदारता त्याग पर ही टिकी रह सकती है।

भोग और त्याग—इन दो स्थितियों मे समग्र जीवन का चित्र अकित किया जा सकता है जो जीवन को भोग मात्र के लिये मानता है, वह अपनी चेतना से हटकर शरीर मे बधता है, परिग्रह की मूर्छा मे वधता है और जडग्रस्त बनता है। भोग इस तरह स्वार्थ को जन्म देता है। स्वार्थ अन्धा होता है - वह अपने ही को याद रखता है—दूसरों को भुला देता है। स्वार्थ राग द्वेष की वृत्तियों को पैदा ही नहीं करता, उन्हे चिकनी बनाता रहता है। जहाँ राग द्वेष है—स्वार्थ है—वहाँ कौन सा विकार डेरा नहीं डालता ? भोग है तो विषय-वासना है, राग द्वेष है तो क्रोध मान, माया, लोभ है और जहाँ यह कुविचारो चौकडी है, वहाँ अनीति, अन्याय एव अत्याचार का कोई ऐसा अनर्थ नहीं—जिसे भोगी मनुष्य करने हिचकिचाए। यही भोग-वृत्ति जब समाज और राष्ट्र को आच्छादित करती है, तब शोषण और दमन के दौर चलते है—हिंसात्मक आक्रमण एव युद्ध होते हैं—तब मनुष्यता मनुष्य ही के रक्त से नहाकर पैशाचिकता का अपरूप धारण करती है।

त्याग इस वास्ते समता सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है - इतना महत्त्वपूर्ण कि किंचित् मात्र इससे हटे कि समझिये आपने विषमता को न्यौता दे डाला। समता की साधना के समय विचार एव कार्य-दृष्टि निरन्तर इस केन्द्र बिन्दु पर लगी रहनी चाहिये।

जितना त्याग : उतनी समता

जितना त्याग : उतनी समता और जितना भोग, उतनी विषमता। त्याग कितना—इसकी कोई सीमा नहीं होती। एक दुःखी प्राणी को

देख कर पांच पैसे की सहायता करता है तो कोई दूसरा उसके दुःख का निवारण करने के लिये अपने अमूल्य जीवन का भी उत्सर्ग कर देता है। किस कारण के लिये कितना त्याग किया जा सकता है—यह अन्तःप्रेरणा की वस्तु-स्थिति होती है, किन्तु मूल आवश्यकता यह है कि अन्तःकरण मे त्याग की अटूट निष्ठा बने।

'मैं किसी भी दूसरे प्राणी के हित पर कतई आघात न करू'—यह सामान्य निष्ठा हुई, लेकिन 'मैं दूसरों के हितों की रक्षा के लिये अपने हितों को भी छोड दू'—यह त्याग की विशेष निष्ठा होगी। जहाँ जैसी स्थिति हो, वहाँ उस रूप मे यदि यह निष्ठा बनी रहे तो आप लाख सोचकर भी वह जगह नही बता पायेगे, जहाँ किसी भी प्रकार का कोई सघर्ष पैदा हो सके। ताली कहते है, दोनो हाथो से बजती है, एक से नही। जहाँ एक व्यक्ति ताली से अपना हाथ सरका ले, वहाँ ताली नहीं बजेगी यह तो सही है ही, लेकिन जिसकी मजबूरी से ताली नही बजी है वह भी पहले व्यक्ति से प्रेरणा लेने की बात सोचेगा। इसी तरह सघर्ष मिटता जायगा, विषमता हटती जायगी और समता फलती व फूलती जायगी।

समता सदन के प्रमुख सिद्धान्त स्तंभ

:१:

आत्माओं की समता—मूल स्वरूप
में एव विकास के चरम मे

मनुष्य को सबसे पहले यह स्थिति-ज्ञान हो जाना चाहिये कि वह क्षुद्र या हीन नहीं है, जो विकास के ऊँचे से ऊँचे स्तर तक न पहुच सके। आत्माएँ अपने मूल स्वरूप मे सभी समान होती हैं—जो अन्तर है वह अन्तर मिटाया जा सकता है। एक अगारा खुला पडा है—उसकी लाल-लाल ज्योति चमकती है। उस पर जितने अश मे राख पडती जायगी, उसकी ज्योति मन्दी होती जायगी, किन्तु ज्यों ही उसे हवा के

झोंके की सहायता मिलेगी और उसकी राख जिस परिमाण मे उस पर से हटेगी, उसकी वह ज्योति फिर से चमकती भी जायगी।

आत्मा का अनन्त ज्ञान एव अनन्त शक्ति जो ईश्वरत्व के रूप मे फूट कर प्रदीप्त बनती है, वही प्रदीप्तता प्रत्येक आत्मा मे समाई हुई है, किन्तु कुकर्मों की राख सासारिक आत्माओ पर छाई होने से जो तेज प्रकट होना चाहिये, वह दबा रहता है। यों कह दें कि आत्मीय समता को निखारने के लिये सत्कर्मों की ऐसी हवा बहाई जाय कि अगारे पर जमी राख उड जाय और उसको ज्योति अपनी पूरी चमक के साथ प्रकाशित हो जाय।

इस सिद्धान्त से कर्मण्यता की अनुभूति जागृत होनी चाहिये। किसी भी आत्मा मे ऐसी कोई विशिष्टता नहीं है जो अन्य आत्मा मे प्राप्य न हो। सभी आत्माओ मे समान शक्ति निहित है तथा उस छिपी हुई शक्ति को प्रकट कर सकने का पराक्रम भी सब मे समान रूप से रहा हुआ है। अब जो जितना पराक्रम दिखाता है, वैसी प्राप्ति उसे हो जाती है। ईश्वरत्व तक पहुँचने के द्वार सबके लिये समान रूप से खुले हुए हैं और साधना के कठिन मार्ग पर होकर कोई भी उसमे प्रवेश कर सकता है। इस मान्यता से कर्मठता की भावना जागती है।

समता का पहला सिद्धान्त यह हुआ कि सभी आत्माओं के लिये अपना चरम विकास तक सम्पादित करने मे अवसर की समानता है—कोई विषम या विभेदपूर्ण स्थिति नहीं है। जो भी ज्ञान और क्रिया के सच्चे रास्ते पर आगे बढेगा, उस पर निरपेक्ष भाव से अपना पराक्रम दिखायेगा, वह स्वय समता पाएगा और बाहर समता फैलाएगा।

:२:

दुर्भावना, दुर्वचन एव दुष्प्रवृत्ति का परित्याग

आत्मीय समता की उपलब्धि हेतु समस्वभाव का निर्माण होना चाहिये। स्वभाव की विषमता चारों ओर विषम वातावरण बनाने लगती है। स्वभाव को ढालने का अर्थ है मन, वाणी एव कर्म को

ढालना। किसी का सोचना, बोलना और करना उसके अपने भावों को व्यक्त करता है। यदि इन तीनो मे किसी की समानता है तो माना जाता है कि वह भद्र पुरुष है जब यह समानता भी अच्छाई को दिशा मे बढाने वाली हो। दूसरी ओर कोई सोचे क्या, बतावे क्या और करे क्या—उस पर सहज ही कोई विश्वास नहीं करता तथा उसे धूर्त पुरुष कहा जाता है तथा इन तीनो के विभेद से बुराई तो फूटती ही है।

मन, वाणी, एव कर्म की समता तो अभीष्ट है ही, किन्तु इस समता के साथ इन तीनो के साथ लगे 'दु' को धो डालना होता है। किसी के प्रति बुरा विचार ही पैदा न हो—किसी को बुरा लगे वैसा वचन मुँह से नहीं निकले और किसी के मन, वचन एव कार्य को चोट पहुचाने वाला कोई भी कार्य हमसे नहीं हो तो न कही सघर्ष की स्थिति होगी, न किसी भी अश मे विषमता पैदा होगी। मन, वाणी एव कर्म की समता एव शुद्धता सभी स्थानों पर—चाहे वह परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व हो-सबमे सद्भावना ही उत्पन्न करेगी। यह सयुक्त सद्भावना ही स्थायी समता का वातावरण बनाती है।

मनुष्य भी आहार, निद्रा, भय व मैथुन की दृष्टि से एक पशु ही है किन्तु अन्य पशुओ से उसमे जो विशेषता है वह उसके विवेक की है, उसकी भावना की है। मस्तिष्क एव हृदय की गतिशीलता ही मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाती है, मनुष्यता मे रमाती है तो देवत्व के दर्शन भी कराती है। मानव शरीर अवश्य भोजन पर चलता है किन्तु मानव जीवन मुख्यतः भावना पर चलता है। जितना वह भावनाशील बनता है, उसके मन, वचन एव कर्म का विवेक जागता है और ज्यों २ उसकी भावना सरणियाँ उन्नत बनती है, समता की स्थितियाँ सुगठित होती जाती है। भावनाशून्य मनुष्य का जीवन पशुवत् ही माना जाता है।

भावना ही वह शक्ति है जो मनुष्य के 'दु' को धोकर उसे सत्साधना मे कर्मनिष्ठ बनाती है एव 'सु' से विभूषित कर देती है। यह 'सु' ही समता का वाहक होता है।

:३:

समस्त प्राणी वर्ग का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारना

समता सिद्धान्त को यह प्रमुख मान्यता है कि ससार के सभी मनुष्य बल्कि सभी प्राणी अपना स्वतत्र अस्तित्व रखते हैं तथा कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, किसी दूसरे के अस्तित्व को मिटाने का उसे कोई अधिकार नहीं है, बल्कि उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्येक के स्वतत्र अस्तित्व को रक्षा मे नियोजित करे। समान कर्मण्यता, समान श्रेष्ठता एव समान हार्दिकता का स्पर्श दुर्बल जीवन मे भी प्राण भरेगा और उसकी सर्वाङ्गीण शक्ति को उभारेगा।

"जीओ और जोने दो"—का सिद्धान्त इसोकी प्रतिकृति है कि प्रत्येक जीवन अपने सचरण को इतना सोमित एव मर्यादित रखे कि वह कहीं भी अन्य जीवन के साथ सघर्ष मे न आवे तथा सबको 'आत्मवत्' समझे। तब विचार एव आचार मे समता के सूत्र सब ओर फैलने लगते है। 'अपनी आत्मा वैसो हो सबकी आत्मा' का अनुभाव जब पैदा होता है तो वह मनुष्य अपने दायित्वों के प्रति सावधान बन जाता है तथा सभी जीवधारियों के प्रति स्नेहिल एव मृदु हो जाता है। सबके प्रति समान रूप से स्नेह को वर्षा करने मे ही समता को तरल सार्थकता बनती है।

समस्त प्राणी वर्ग का स्वतत्र अस्तित्व स्वीकारने मे मनुष्य के समूचे जीवन मे एक समतामय परिवर्तन आता है जो सारी जीवन-विधा को बदल देता है। ऐसे व्यक्ति में दभ या हठवाद नहीं जागता और उसके विचार से विनम्रता कभी नहीं छूटती, क्योंकि वह यह कभी नहीं मानता कि मैं ही सब कुछ हूँ। सबके प्रति समादर उसे सबके सुख-दु:ख का सहभागी बनाता है तो दूसरी ओर उसके सद्‌गुणों का प्रभाव अधिक से अधिक विस्तृत बन कर समूचे वातावरण को समता के रग मे रगने लगता है।

ढालना। किसी का सोचना, बोलना और करना उसके अपने भावों को व्यक्त करता है। यदि इन तीनों मे किसी की समानता है तो माना जाता है कि वह भद्र पुरुष है जब यह समानता भी अच्छाई की दिशा मे बढाने वाली हो। दूसरी ओर कोई सोचे क्या, बतावे क्या और करे क्या—उस पर सहज ही कोई विश्वास नही करता तथा उसे धूर्त पुरुष कहा जाता है तथा इन तीनों के विभेद से बुराई तो फूटती ही है।

मन, वाणी, एव कर्म को समता तो अभीष्ट है ही, किन्तु इस समता के साथ इन तीनों के साथ लगे 'दु' को धो डालना होता है। किसी के प्रति बुरा विचार ही पैदा न हो—किसी को बुरा लगे वैसा वचन मुँह से नहीं निकले और किसी के मन, वचन एव कार्य को चोट पहुचाने वाला कोई भी कार्य हमसे नही हो तो न कही सघर्ष की स्थिति होगी, न किसी भी अश मे विषमता पैदा होगी। मन, वाणी एव कर्म की समता एव शुद्धता सभी स्थानो पर—चाहे वह परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व हो-सबमे सद्भावना ही उत्पन्न करेगी। यह सयुक्त सद्भावना ही स्थायी समता का वातावरण बनाती है।

मनुष्य भी आहार, निद्रा, भय व मैथुन की दृष्टि से एक पशु ही है किन्तु अन्य पशुओ से उसमे जो विशेषता है वह उसके विवेक की है, उसकी भावना की है। मस्तिष्क एव हृदय की गतिशीलता ही मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाती है, मनुष्यता मे रमाती हैं तो देवत्व के दर्शन भी कराती है। मानव शरीर अवश्य भोजन पर चलता है किन्तु मानव जीवन मुख्यतः भावना पर चलता है। जितना वह भावनाशील बनता है, उसके मन, वचन एव कर्म का विवेक जागता है और ज्यो २ उसकी भावना सरणियाँ उन्नत बनती है, समता की स्थितियाँ सुगठित होती जाती है। भावनाशून्य मनुष्य का जीवन पशुवत् ही माना जाता है।

भावना ही वह शक्ति है जो मनुष्य के 'दु' को धोकर उसे सत्साधना मे कर्मनिष्ठ बनाती है एव 'सु' से विभूषित कर देती है। यह 'सु' ही समता का वाहक होता है।

:३:

समस्त प्राणी वर्ग का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारना

समता सिद्धान्त की यह प्रमुख मान्यता है कि ससार के सभी मनुष्य बल्कि सभी प्राणी अपना स्वतत्र अस्तित्व रखते हैं तथा कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, किसी दूसरे के अस्तित्व को मिटाने का उसे कोई अधिकार नहीं है, बल्कि उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्येक के स्वतत्र अस्तित्व की रक्षा मे नियोजित करे। समान कर्मण्यता, समान श्रेष्ठता एव समान हार्दिकता का स्पर्श दुर्बल जीवन मे भी प्राण भरेगा और उसकी सर्वाङ्गीण शक्ति को उभारेगा।

"जीओ और जीने दो"—का सिद्धान्त इसीकी प्रतिकृति है कि प्रत्येक जीवन अपने सचरण को इतना सीमित एवं मर्यादित रखे कि वह कहीं भी अन्य जीवन के साथ सघर्ष मे न आवे तथा सबको 'आत्मवत्' समझे। तब विचार एव आचार मे समता के सूत्र सब ओर फैलने लगते है। 'अपनी आत्मा वैसी हो सबकी आत्मा' का अनुभाव जब पैदा होता है तो वह मनुष्य अपने दायित्वों के प्रति सावधान बन जाता है तथा सभी जीवधारियों के प्रति स्नेहिल एव मृदु हो जाता है। सबके प्रति समान रूप से स्नेह की वर्षा करने मे ही समता की तरल सार्थकता बनती है।

समस्त प्राणी वर्ग का स्वतत्र अस्तित्व स्वीकारने मे मनुष्य के समूचे जीवन मे एक समतामय परिवर्तन आता है जो सारी जीवन-विधा को बदल देता है। ऐसे व्यक्ति में दभ या हठवाद नहीं जागता और उसके विचार से विनम्रता कभी नहीं छूटती, क्योंकि वह यह कभी नहीं मानता कि मैं ही सब कुछ हूँ। सबके प्रति समादर उसे सबके सुख-दु:ख का सहभागी बनाता है तो दूसरी ओर उसके सद्गुणों का प्रभाव अधिक से अधिक विस्तृत बन कर समूचे वातावरण को समता के रग मे रगने लगता है।

ढालना। किसी का सोचना, बोलना और करना उसके अपने भावों को व्यक्त करता है। यदि इन तीनो मे किसी की समानता है तो माना जाता है कि वह भद्र पुरुष है जब यह समानता भी अच्छाई की दिशा मे बढाने वाली हो। दूसरी ओर कोई सोचे क्या, बतावे क्या और करे क्या—उस पर सहज ही कोई विश्वास नही करता तथा उसे धूर्त पुरुष कहा जाता है तथा इन तीनो के विभेद से बुराई तो फूटती ही है।

मन, वाणी, एव कर्म को समता तो अभीष्ट है हो, किन्तु इस समता के साथ इन तीनो के साथ लगे 'दु' को धो डालना होता है। किसी के प्रति बुरा विचार ही पैदा न हो—किसी को बुरा लगे वैसा वचन मुँह से नहीं निकले और किसी के मन, वचन एव कार्य को चोट पहुचाने वाला कोई भी कार्य हमसे नही हो तो न कही सघर्ष की स्थिति होगी, न किसी भी अश मे विषमता पैदा होगी। मन, वाणी एव कर्म की समता एव शुद्धता सभी स्थानों पर—चाहे वह परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व हो-सबमे सद्‌भावना ही उत्पन्न करेगी। यह सयुक्त सद्‌भावना ही स्थायी समता का वातावरण बनाती है।

मनुष्य भी आहार, निद्रा, भय व मैथुन की दृष्टि से एक पशु ही है किन्तु अन्य पशुओं से उसमे जो विशेषता है वह उसके विवेक की है, उसकी भावना की हैं। मस्तिष्क एव हृदय की गतिशीलता ही मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाती है, मनुष्यता मे रमाती है तो देवत्व के दर्शन भी कराती है। मानव शरीर अवश्य भोजन पर चलता है किन्तु मानव जीवन मुख्यतः भावना पर चलता है। जितना वह भावनाशील बनता है, उसके मन, वचन एव कर्म का विवेक जागता है और ज्यों २ उसकी भावना सरणियाँ उन्नत बनती है, समता की स्थितियाँ सुगठित होती जाती है। भावनाशून्य मनुष्य का जोवन पशुवत् ही माना जाता है।

भावना ही वह शक्ति है जो मनुष्य के 'दु' को धोकर उसे सत्साधना मे कर्मनिष्ठ बनाती है एव 'सु' से विभूषित कर देती है। यह 'सु' ही समता का वाहक होता है।

:३:

समस्त प्राणी वर्ग का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारना

समता सिद्धान्त की यह प्रमुख मान्यता है कि ससार के सभी मनुष्य बल्कि सभी प्राणी अपना स्वतत्र अस्तित्व रखते है तथा कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, किसी दूसरे के अस्तित्व को मिटाने का उसे कोई अधिकार नहीं है, बल्कि उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्येक के स्वतत्र अस्तित्व की रक्षा मे नियोजित करे। समान कर्मण्यता, समान श्रेष्ठता एव समान हार्दिकता का स्पर्श दुर्बल जीवन मे भी प्राण भरेगा और उसकी सर्वाङ्गीण शक्ति को उभारेगा।

"जीओ और जोने दो"—का सिद्धान्त इसोकी प्रतिकृति है कि प्रत्येक जीवन अपने सचरण को इतना सीमित एव मर्यादित रखे कि वह कहीं भी अन्य जीवन के साथ सघर्ष मे न आवे तथा सबको 'आत्मवत्' समझे। तब विचार एव आचार मे समता के सूत्र सब ओर फैलने लगते है। 'अपनी आत्मा वैसी हो सबकी आत्मा' का अनुभाव जब पैदा होता है तो वह मनुष्य अपने दायित्वों के प्रति सावधान बन जाता है तथा सभी जीवधारियों के प्रति स्नेहिल एव मृदु हो जाता है। सबके प्रति समान रूप से स्नेह की वर्षा करने मे ही समता की तरल सार्थकता बनती है।

समस्त प्राणी वर्ग का स्वतत्र अस्तित्व स्वीकारने मे मनुष्य के समूचे जीवन मे एक समतामय परिवर्तन आता है जो सारी जीवन-विधा को बदल देता है। ऐसे व्यक्ति में दभ या हठवाद नहीं जागता और उसके विचार से विनम्रता कभी नहीं छूटती, क्योंकि वह यह कभी नहीं मानता कि मैं ही सब कुछ हूँ। सबके प्रति समादर उसे सबके सुख-दु'ख का सहभागी बनाता है तो दूसरी ओर उसके सद्गुणों का प्रभाव अधिक से अधिक विस्तृत बन कर समूचे वातावरण को समता के रग मे रगने लगता है।

:४:

समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों का यथाविकास यथायोग्य वितरण

जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना कोई जीवन चल नही सकता और जब इन्हीं जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकार के सम्बन्ध मे धींगाधींगी चलती हो तो पहला काम उसे मिटाना होगा। यह सही है कि रोटी ही सब कुछ नही है लेकिन उस 'सबकुछ' की नीव अवश्य ही रोटी पर टिकी हुई है। मूल आवश्यकताएँ होती है—भोजन, वस्त्र और निवास। सभी जीवनधारियो की मूल आवश्यकताएँ पूरी हों—यह पहली बात किन्तु दूसरी बात भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है कि वह पूर्ति विषम नही होनी चाहिये।

यही कारण है कि समस्त जीवनोपयोगी पदार्थो के यथाविकास—यथायोग्य वितरण पर बल दिया जा रहा है।

यथाविकास एव यथायोग्य वितरण का लक्ष्य यह होगा कि जिसको अपनी शरीर-दशा, धधे या अन्य परिस्थितियो के अनुसार जो योग्य रीति से चाहिये, वैसा उसे दिया जाय। यही अपने तात्पर्य्य मे सम वितरण होगा।

अब जहाँ वितरण का प्रश्न है—ऐसी सामाजिक व्यवस्था होनी चाहिये जो ऐसे वितरण को सुचारु रूप से चलावे। वितरण को सुचारु बनाने के लिये उत्पादन के साधनो पर किसी न किसी रूप मे समाज का नियत्रण आवश्यक होगा ताकि व्यक्ति की तृष्णा वितरण की व्यवस्था को अव्यवस्थित न बनादे। इसके सिवाय उपभोग परिभोग के पदार्थों की स्वेच्छा से मर्यादा बांधने से भी वितरण मे सुविधा हो सकेगी।

समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों मे मूल आवश्यक पदार्थों के अलावा अन्य सुविधाजनक पदार्थों का भी समावेश हो जाता है, जिसके यथा विकास एव यथायोग्य वितरण का यह भी परिणाम होना चाहिये कि आर्थिक विषमता की स्थिति न रहे और न पनपे। पदार्थो का अभाव जितना घातक नहीं होता उससे भी अधिक घातक यह विषमता होती

है। विषमता के कारण ही धनलिप्सा भी असीम बनकर अनीति एव अनर्थ कराने को मनुष्य को उत्तेजित बनाती है। इस विषमता को दूर करके आर्थिक समता के मार्ग को प्रशस्त करने का यही उपाय है कि सुदृढ व्यवस्था-प्रणाली द्वारा सभी पदार्थों का यथाविकास एव यथायोग्य सवितरण किया जाय।

·५ः

जन कल्याणार्थ सपरित्याग में आस्था

आर्थिक समता लाने की प्रारभिक अवस्था मे अथवा सकटकाल मे प्रत्येक व्यक्ति की यह तैयारी होनी चाहिये कि व्यापक जन कल्याण की भावना से वह अपने पास जो कुछ है उसका परित्याग करने मे कतई न हिचकिचावे। इस वृत्ति मे आस्था होने का यही अभिप्राय है कि वह अपनी सचित सम्पत्ति मे ममत्व न रखे, वल्कि उसे भी समाज का न्यास समझे जिसे यथावसर वह पुनः समाज को समर्पित कर दे।

जनकल्याण का अर्थ भी काफी व्यापक दृष्टि से समझना चाहिये। कल्पना करें की प्रदेश मे अकाल की स्थिति बन गई है—आपके पास अपनी सचित सम्पत्ति है किन्तु मनुष्य और पशु अन्न एव घास के अभाव मे भूख से मर रहे है—तब भी आप अपनी सम्पत्ति को अपने पास दवाकर वैठे रहे—यह समता के सिद्धान्त को मान्य नहीं है। यह सिद्धान्त तो आपको प्रेरणा देता है कि व्यक्ति को समूह के कल्याण के लिये अपनी सम्पत्ति ही नहीं—अपने जीवन और सर्वस्व तक का सपरित्याग कर देना चाहिये। समूह का हित व्यक्ति के हित से वडा होता है—इस तथ्य को भुलाया नहीं जाना चाहिये। सामूहिक हितसाधना मे व्यक्ति के त्याग को सदा प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। सामाजिक व्यवस्था को सर्वजन हितकारी इसी निष्ठा के साथ वनाई जा सकती है।

समता का सिद्धान्त दर्शन तो सपरित्याग की इस आस्था का मनुष्य के मन मे अधिकाधिक विकास करना चाहेगा। सपरित्याग की आस्था जितनी गहरी होगी, उतना ही सम्पत्ति आदि के प्रति मनुष्य का मोह

कम होगा जिसके प्रभाव से विषमता की दीवारें खुद व खुद ढहती जायगी और उनके स्थान पर समता का सुखद सदन निर्मित होता जायगा। यह सपरित्याग अर्थलोलुप परम्पराओं को बदलेगा—वितृष्णाजन्य वृत्तियों को बदलेगा तो जीवन मे सरसता की नई शक्तियों का उदय भो करेगा। समाज की आर्थिक व्यवस्था सम बन जातो है तो सही मानिए कि व्यक्ति व्यक्ति का चरित्र भी नई प्रगतिशील करवट ले सकेगा। यह कार्य सपरित्याग की आस्था से अधिक सहज बन जायगा।

६

गुण-कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग में विश्वास—

जब अर्थ-परिग्रह को मानव जीवन एव मानव समाज के शीर्षस्थ स्थान से नीचे हटा दिया जायगा और जब मानवता उसे अपने नियत्रण मे ले लेगी, तब समाज का आज का अर्थप्रधान ढांचा पूरे तौर पर बदल जायगा। राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक समता के परिवेश मे तब धन-सम्पत्ति के आधार पर श्रेणी विभाग नहीं होगा बल्कि गुण व कर्म के आधार पर समाज का श्रेणी विभाजन होगा। वह विभाजन भी मानवता का तिरस्कार करने वाला नही, बल्कि समता के लक्ष्य की ओर बढाने के लिये स्वस्थ होड का अवसर देनेवाला होगा। अर्थ के नियत्रण मे जबतक चेतन रहता है तब तक वितृष्णा के वशीभूत होकर जडवत् बना रहता है किन्तु ज्योंही वह अर्थ को अपने कठोर नियत्रण मे रखना सीख जायगा—उसका चैतन्य भो चमक उठेगा।

समता मार्ग की ओर बढने वाले व्यक्ति का इस कारण सिद्धान्ततः गुण व कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग मे विश्वास होना चाहिये। गुण व कर्म का आधार किस रूप मे हो--इसे समझ लेना चाहिये। कारण कि आज के अर्थ-प्रभावो वातावरण मे यह कठिनता से समझ मे आनेवाला तथ्य है। समाज मे ऊँची श्रेणी, ऊँचा आदर या ऊँची प्रतिष्ठा उसे मिलनो चाहिये जिसने अपने जीवन मे ऊँचे मानवीय गुणों का सम्पादन

किया हो तथा जिसके कार्य त्याग एव जनकल्याण की दिशा मे सदा उन्मुख रहते हों और इसी मापदड से समाज को विभिन्न श्रेणियों मे विभाजित किया जाय। इस विभाजन का यही अर्थ होगा कि नीचे की श्रेणी वाला स्वय प्रबुद्धता ग्रहण करता हुआ ऊपर की श्रेणियों मे आने का सत्प्रयास करता रहे। गुण और कर्म ही मनुष्य को महानता के प्रतीक हों एवं अन्य पौद्गलिक उपलब्धियाँ इनके समक्ष हीन-दृष्टि से देखी जाय।

गुण कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग का विश्वास ज्यों २ मनुष्य के आचरण मे उतरेगा, अन्य भौतिक प्राणियों का महत्त्व समाज मे स्वतः ही घटता जायगा और तदनुसारर भौतिक दृष्टि से सम्पन्नों का समादर भी समाप्त हो जायगा। तब गुणाधारित समाज एक कर्मनिष्ठ समाज होगा और व्यक्ति २ का सामान्य चरित्र भी समुन्नत होता जायगा। सर्वागीण समता वैसे समय मे एक सुलभ साध्य बन जायगी।

सच पूछा जाय तो मनुष्यता का सच्चा विकास ही तव होगा जब गुण पूजक सस्कृति को रचना होगो जैसो कि महावोर ने रची थी। ऐसी सस्कृति हो सदाशय कर्म को अनुप्रेरित करतो रहती है। महावीर ने अपने दर्शन मे व्यक्ति महत्ता को कहीं स्थान नहीं दिया है—सिर्फ गुणों की आराधना पर वल दिया। नमस्कार मत्र मे भी किसी व्यक्ति को नहीं, अपितु गुणों के प्रतीक—अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एव साधु को वन्दन किया गया है। इसी गुणाधारित सस्कृति के श्रेष्ठतम विकास एव अधिकतम प्रसार पर वल दिया जाना चाहिये।

:७:

सम्पत्ति व सत्ता प्रधान व्यवस्था के स्थान
पर मानवता प्रधान व्यवस्था का गठन—

समता के सिद्धान्त दर्शन का निचोड यह होगा कि वर्तमान समाज व्यवस्था मे आमूलचूल परिवर्तन हो और उस परिवर्तन का उद्देश्य यह हो कि जड का नही, चेतना का शासन स्थापित हो, सत्ता या सम्पत्ति को

शक्ति से प्रभुता न मिले, बल्कि मानवीय गुणों की उपलब्धि से समाज का नेतृत्व प्राप्त हो। इसके लिये आज की सम्पत्ति एव सत्ता प्रधान व्यवस्था को हटाकर उसके स्थान पर मानवता-प्रधान व्यवस्था का गठन करना होगा।

इस व्यवस्था से सम्पत्ति व सत्ता के स्वामी को नही, मानवीय गुणों के साधक को प्राण-प्रतिष्ठा मिलेगी जिससे गुण प्राप्ति की ओर सामान्य जन का उत्साह बढेगा। सम्पत्ति और सत्ता पाने की छिछली और घिनौनी होड़ खत्म हो जायगी। सम्पत्ति और सत्ता को अपने लिये प्राप्त करने की यह होड़ ही हकीकत मे सारी विषमता को पैदा करनेवाली है। यही होड मनुष्य के सारे आचरण को आज दभी बनाये हुए है। मनुष्य का मन आज सोचता कुछ और है किन्तु अपने बाहरी आचरण से वह दिखता कुछ और है और इस तरह अपने दुमुखी दभपूर्ण व्यवहार द्वारा वह धूर्तता का प्रचार करता है और धूर्ताई को धीरे २ अपना पेशा बना लेता है। यह आज की सपत्ति एवं सत्ता-प्रधान समाज-व्यवस्था का कुफल है।

मानवता-प्रधान समाज व्यवस्था मे चेतना, मनुष्यता एव कर्मनिष्ठा की श्रेष्ठता को प्रधानता मिलेगी। सर्वहित मे जो जितना ज्यादा त्याग करेगा, वह उतना ही पूजा जायगा। तब दृष्टि सम होने से यथार्थ वनेगी और दृष्टि वस्तु-स्वरूप को उसकी वास्तविकता मे देखेगी। जब यह अवलोकन सही होगा तो उसकी रोशनी मे प्रत्येक को अपने उत्तर-दायित्वो का भान भी सही रूप मे होगा। ऐसी सचेतक स्थिति मे वह अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यो का ज्ञान भी सम्यक् प्रकार से कर सकेगा।

मानवीय गुणो के आधार पर ढला व्यक्ति एव समाज का जीवन तव समता की दिशा को ओर ही अभिमुख रहेगा और यह समता भी एकांगी नही, सर्वांगीण होगी। सांसारिक जीवन को जव ऐसी समता का आधार दे दिया जायगा तो उस जीवन से सन्त-जीवन मे प्रवेश करने वाले त्यागियों का चरित्र अपनी विशिष्टता को अतीव प्राभाविक रूप से सव ओर प्रकाशित करेगा। 'जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा'—अर्थात् जो ससार के सत्कर्मो मे शौर्य्य प्रदर्शित कर सकते हैं, वे धर्म-क्षेत्र मे भी अपना

अपूर्व शौर्य्य अवश्य दिखाते हैं। समता के वातावरण मे पला-पोषा ससारी जीवन आध्यात्मिक क्षेत्र मे ऐसी आदर्श समता का विकास कर सकेगा जो आत्मा को परमात्मा से मिलाती है।

सिद्धान्त-दर्शन का पहला सोपान

समता दर्शन द्वारा लक्षित आत्मीय समता से मानवीय समता तक के इस सिद्धान्त-विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि हमे किस दिशा मे गतिशील बनना है ? पहले ही सोपान पर सिद्धान्त के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण इस तथ्य का द्योतक है कि जो कुछ करना है, सबसे पहले उसके गन्तव्य के सम्बन्ध मे प्रबुद्ध पुरुषो के दिशा-निर्देश को जानो तथा उसे हृदयगम करके अपने चिन्तन का विषय बनाओ। दूसरे सोपान जीवन दर्शन मे इसी दृष्टिकोण से ज्ञान के इस प्रकाश मे आचरण को कैसी धारण वहनी चाहिये—इसका विवेचन किया जायगा।

ज्ञान, चिन्तन एव कर्म को त्रिधारा मे कहीं भी सत्य को आखो से ओझल न होने दिया जाय और सत्य की सारी कसौटियों मे आत्मानुभूति की कसौटी सदा जीवन्त बनी रहनी चाहिये। सिद्धान्त के प्रत्येक पहलू पर चिन्तन करते समय यदि आत्मानुभूति सजग बनी रहती है तो अन्तर मे सत्य की ज्योति भी सदा चमकती रहेगी। सत्याधारित चिन्तन का जो भीतर निष्कर्ष निकलता है, सही अर्थ मे उसे ही आत्मा की आवाज मानना चाहिये।

सत्य-दर्शन की इस विधि को न भूलें !

सत्य दर्शन के सम्बन्ध मे महावीर की स्याद्वाद विधि को सदैव याद रखें। स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति की इस विधि को कई लोग नासमझी मे अनिश्चयपूर्ण कहते हैं किन्तु यदि इसे गहराई से समझा

जाय तो साफ हो जायगा कि हठहीन निष्ठा से विचार-समन्वय की इस पृष्ठभूमि पर खडे होकर जितने सहज भाव से सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है—सभवत. वैसी अन्य पृष्ठभूमि सार्थक नहीं होगी।

कथचित् यह भी है तथा कथचित् वह भी है—इस विचार श्रणी मे सत्य के सभी पक्षों को समक्ष रखने का आग्रह है। सात अधो और हाथी की कहानी सभी जानते है। जब किसी एक खास विचार के प्रति दुराग्रह बनता है तब उसकी स्थिति भी उन अधो जैसी ही हो जाती है। जिस अधे ने हाथी की पीठ पर हाथ फेरा, उसने हठपूर्वक यही कहा कि हाथी तो दीवार जैसा ही होता है। जिसने पूछ पकडी उसने हाथी को रस्सी जैसा तो जिसने पैर पकडा उसने उसे खभे जैसा बताया। इसीप्रकार सभी अन्धे अपनी-अपनी धारणा के अनुसार हाथी की आकृति बताने लगे। आकृति बतावें वहाँ तक तो फिर भी कोई बात नही, किन्तु सघर्षशील विवाद करने लगे कि जो कुछ वह बता रहा है, वही सत्य है और और जो कुछ दूसरा बता रहा है, वह पूर्णतः असत्य है।

आज का विचार मतभेद दुराग्रहपूर्ण रूख धारण करके कुछ ऐसा ही रूप लिये हुए है। अब इस विवाद मे स्याद्वाद को लागू करें।

एक अपेक्षा से प्रत्येक अधे का अनुभव सत्य है। कथचित् हाथी दीवार जैसा है भी और पूरे तौर पर देखे तो नही भी है। यह अनिश्चितता नहीं है बल्कि निश्चिता को पकडने का सूत्र अवश्य है। यदि सभी अधे विवाद नहीं करते--एक दूसरे को सुनते और समझते, फिर सबके अनुभवों को मिलाकर सहिष्णुतापूर्वक सत्य को खोजते तो क्या वह उन्हे नहीं मिलता ? तो ऐसे दुराग्रही विचारान्धों के लिये स्याद्वाद वैसा नेत्रवान पुरुष है जो उनके अनुभवो को समन्वित करके सत्य के दर्शन कराता है।

किसी भी तत्त्व, स्वरूप, सम्बन्ध अथवा वस्तु के कई रूप होते हैं। यदि उसके सभी रूपो का ज्ञान न हो तो उसका एकागी ज्ञान अधिकतर मिथ्या की ओर ही ले जाता है। जहाँ सत्य की जिज्ञासा है, वहाँ

एकांगी ज्ञान भी पूर्णता प्राप्ति की ओर गति करता है किन्तु दुराग्रह मे पडकर वैसा ज्ञान अज्ञान रूप ही हो जाता है। सत्य ज्ञान दृष्टि विविध अपेक्षाओं को समझ कर सम्पूर्ण स्वरूप का निर्णय करती है।

आत्मानुभूति का सत्य

ज्ञान और चिन्तन की धाराओं मे जो अन्तर मे अनुभूति होती है— वह पूर्ण सत्य हो, यह आवश्यक नहीं। आत्मा के यथाविकास पर उसके सत्याश की गुरुता या लघुता बनती है किन्तु यह सही है कि प्रत्येक सच्ची आत्मानुभूति मे सत्याश अवश्य होता है, बशर्ते कि उसका प्रकटीकरण निश्छल हो। इस आत्मानुभूति मे यदि विनम्रता एव सत्य की जिज्ञासा हो तो हठवाद उसे बाधेगा नहीं तथा उन्मुक्त आत्मानुभूति जहाँ से भी मिलेगी, सत्याशो को सम्हालने क चेष्टा मे तल्लीन रहेगी।

समता साधक का कर्त्तव्य

समता-दर्शन के साधक का इस सदर्भ मे पवित्र कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह सिद्धान्तों को जानकर आत्मानुभूति की कसौटी पर कसे और सत्य-दर्शन को जिज्ञासा को सदैव जागृत रखे। इस सादी प्रक्रिया के बाद जो सत्य सार उसे प्राप्त होगा, उस पर उसकी जो आस्था जायेगी, वह अटूट रहेगी तथा वही उसे कर्म-पथ पर सतत जागृत रखेगी।

●

जीव

की ि

क्रियाहीन ज्ञान पगु होता है तो ज्ञानहीन क्रिया निरर्थ
मानना और करना का सतत क्रम को सार्थक
जानने को वास्तविकता का ज्ञान जाने
की कसौटी पर कसकर खरा भी पहिच
पर निष्क्रियता धार लें तो उससे तो
दूसरी बात है कि सही जानने और मा
जागती ही है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक्
का अनुप्रेरक अवश्य ही बनता है, फिर भी
उत्पन्न होना ही चाहिये।

सिद्धान्त भी वही प्रेरणोत्पादक कहलाता
को जागृत बनाता है। जीवन-निर्माण का य
और क्रिया को सयुक्त शक्ति ही मनुष्य को बन्ध
चाहे वे बन्धन कैसे भी हो—विषमता या तज्जन्य
हों, इस शक्ति के सामने, कभी भी टिके हुए नही रह
एव अटल सकल्प के साथ जब इस शक्ति का पग
विषमता मुक्ति भी सहज बन जाती है। व्यक्ति का अटल
क्रम मे परिवार, समाज, राष्ट्र एव समूचे विश्व की सकल

प्राणवान् बनाता है और यही सामूहिक प्राणशक्ति समाजगत प्रभाव लेकर ज्ञान एव क्रियाहीन व्यक्तियों को सावधान बनाती है। व्यक्ति के जागने से विकास का विशिष्ट स्तर बनता है तो समाज के जागने से सभी व्यक्तियों मे विकास का सामान्य स्तर निर्मित होता है।

व्यक्तिगत एव समाजगत शक्तियो के ज्ञान एव क्रिया के क्षेत्र मे साथ २ कार्यरत होने से विकास मे भो विपमता नहीं रहती। इससे यह नहीं होता कि कुछ व्यक्ति तो अपनी उग्र साधना के बल पर विकास की चोटी पर चढ जावें और बहुसख्यक लोग पतन के खड्ड मे छटपटाते रहे। दोनो स्तरों पर विकास का क्रम साथ २ चलने से नीति एव न्याय तथा सुख एव समृद्धि मे सामाजिक समता की स्थापना होती है।

इसमे काई सन्देह नही कि व्यक्ति का विकास उन्मुक्त होना चाहिये किन्तु साथ हो व्यक्ति का लक्ष्य सामाजिक समुन्नति की ओर भी हो तो सामाजिक प्रणालियाँ भी इस तरह ढलनी चाहिये कि उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को समाज की शक्ति का बल मिले और उन्नतिशील व्यक्ति अपने हर कदम पर समाज को भी प्रगतिशील बनावे। समता का व्यापक लक्ष्य इसी व्यवस्था से सम्पन्न बन सकेगा।

एक वाती से वातियाँ जलती रहे

एक दीपक जलता है—वह प्रकाश फैलाता है। विपमता के अधकार मे समता की एक ज्योति ही आशा की नई २ किरणों को जन्म देती है। किन्तु दीपक को देखने मात्र से दूसरा दीपक जल नहीं उठता है। जले हुए दीपक की वाती का जब तरल सस्पर्श बुझे दीपक की वाती को मिलता है, तभी वह जलता है। और यदि यह क्रम चलता रहे तो कौन सी शक्ति सम्पूर्ण दीपावलि को प्रकाशमान् होने से रोक सकती है?

विकास की गति मे भी यही क्रम होना चाहिये। विकासोन्मुख व्यक्ति मूर्छित व्यक्ति को अपने करुणामय प्रभाव से जगाता रहे—एक वाती से वातियाँ जलती रहे—फिर सबका समतामय विकास कैसे दूर

:५:

जीवन दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा

क्रियाहीन ज्ञान पगु होता है तो ज्ञानहीन क्रिया निरर्थक। जानना, मानना और करना का सतत क्रम ही जीवन को सार्थक बनाता है। जानने को वास्तविकता का ज्ञान करले और उस जाने हुए को चिन्तन की कसौटी पर कसकर खरा भी पहिचान लें और उसके बाद करने के नाम पर निष्क्रियता धार ले तो उससे तो कुछ बनने वाला नहीं है। यह दूसरी बात है कि सही जानने और मानने के बाद करने की सबल प्रेरणा जागती ही है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन का बल सम्यक् चरित्र का अनुप्रेरक अवश्य ही बनता है, फिर भी कर्मठता का उग्र अनुभाव उत्पन्न होना ही चाहिये।

सिद्धान्त भी वही प्रेरणोत्पादक कहलाता है जो तदनुकूल कार्य क्षमता को जागृत बनाता है। जीवन-निर्माण का यही मूलमत्र होता है। ज्ञान और क्रिया को सयुक्त शक्ति ही मनुष्य को बन्धनो से मुक्त करती है। चाहे वे बन्धन कैसे भी हों—विषमता या तज्जन्य विकारों के ही क्यों न हों, इस शक्ति के सामने, कभी भी टिके हुए नहीं रह सकते हैं। दृढ एव अटल सकल्प के साथ जब इस शक्ति का पग आगे बढता है तो विषमता मुक्ति भी सहज बन जाती है। व्यक्ति का अटल सकल्प अपने क्रम मे परिवार, समाज, राष्ट्र एव समूचे विश्व की सकल्प शक्ति को

प्राणवान् वनाता है और यही सामूहिक प्राणशक्ति समाजगत प्रभाव लेकर ज्ञान एव क्रियाहीन व्यक्तियों को सावधान वनाती है। व्यक्ति के जागने से विकास का विशिष्ट स्तर वनता है तो समाज के जागने से सभी व्यक्तियों मे विकास का सामान्य स्तर निर्मित होता है।

व्यक्तिगत एव समाजगत शक्तियो के ज्ञान एव क्रिया के क्षेत्र मे साथ २ कार्यरत होने से विकास मे भो विषमता नहीं रहती। इससे यह नही होता कि कुछ व्यक्ति तो अपनी उग्र साधना के वल पर विकास की चोटी पर चढ जावें और बहुसख्यक लोग पतन के खड्डे मे छटपटाते रहे। दोनों स्तरो पर विकास का क्रम साथ २ चलने से नीति एव न्याय तथा सुख एव समृद्धि मे सामाजिक समता की स्थापना होती है।

इसमे काई सन्देह नही कि व्यक्ति का विकास उन्मुक्त होना चाहिये किन्तु साथ हो व्यक्ति का लक्ष्य सामाजिक समुन्नति की ओर भी हो तो सामाजिक प्रणालियाँ भो इस तरह ढलनी चाहिये कि उन्नति के इच्छुक व्यक्ति को समाज की शक्ति का वल मिले और उन्नतिशील व्यक्ति अपने हर कदम पर समाज को भी प्रगतिशील वनावे। समता का व्यापक लक्ष्य इसी व्यवस्था से सम्पन्न वन सकेगा।

एक वाती से वातियाँ जलती रहे

एक दीपक जलता है—वह प्रकाश फैलाता है। विषमता के अधकार मे समता की एक ज्योति ही आशा की नई २ किरणो को जन्म देती है। किन्तु दोपक को देखने मात्र से दूसरा दीपक जल नहीं उठता है। जले हुए दीपक की वाती का जव तरल सस्पर्श वुझे दीपक की वाती को मिलता है, तभी वह जलता है। और यदि यह क्रम चलता रहे तो कौन सी शक्ति सम्पूर्ण दीपावलि को प्रकाशमान् होने से रोक सकती है?

विकास की गति मे भी यही क्रम होना चाहिये। विकासोन्मुख व्यक्ति मूर्छित व्यक्ति को अपने करुणामय प्रभाव से जगाता रहे—एक वाती से वातियाँ जलती रहे—फिर सवका समतामय विकास

रह सकेगा ? सन्तजन आत्म-साधना भी कर सकते है तथा उपदेश की धारा बहाकर समाज की सेवा भी कर सकते हैं—क्या यह बाती से बाती को जलाना नहीं ? "परोपकाराय सतां विभूतयः"—यह क्यो कहा गया है ? क्या इसलिये नहीं कि परोपकार मे स्वोपकार तो स्वतः ही हो जाता है। व्यक्ति आगे बढता रहे और गिरे हुओ को उठाता रहे—यही तो जीवन-धर्म है। समता के इस जीवन-दर्शन को पुष्ट बनाने के लिये व्यक्ति को पहले समतामय जीवन-निर्माण की दिशा मे अग्रसर होना चाहिये।

व्यवहार, अभ्यास एवं आचरण के चरण

समता दर्शन के इस दूसरे सोपान पर पैर रखते हुए व्यवहार, अभ्यास एव आचरण के चरण सन्तुलित बनने चाहिये। दर्शन के एक बिन्दु को व्यवहार मे लिया तो यह सरल नहीं है कि क्रिया का वह कदम तुरन्त जम जाय। साधना-पथ पर आशा निराशा के झोंके आते है, कठिनाइयाँ मार्ग को रोकती हैं तो कभी मन की दुर्बलताएँ भी हताशा उत्पन्न करती है, अतः व्यवहार के बाद अभ्यास की आवश्यकता होती है।

अभ्यास का अर्थ होता है बार बार उसका व्यवहार। एक सिद्धान्त को जीवन मे उतारा—कुछ व्यवहार किया और मन डगमगा गया। व्यवहार का क्रम टूट गया। किन्तु अभ्यास उसे फिर पकडता है, फिर आजमाता है और तबतक आजमाता जाता है जबतक वह मन को पूरे तौर पर भा न जाय—जीवन मे पक्के तौर पर उतर न जाय। अभ्यास की इस सफल प्रक्रिया से आचरण का निर्माण होता है।

आचरण एक स्थायी स्थिति बन जाती है। जिस सिद्धान्त को अभ्यास से जीवन मे कार्यान्वित कर लिया तब वह जीवन का स्थायी अग बन जाता है और इसे ही आचरण कहते है। आचरण जीवन को एक सांचे मे ढाल देता है। जब हम यह कहे कि व्यक्ति या समाज ने समतामय आचरण बना लिया है तो उसका यही अर्थ होगा कि समता

वैयक्तिक एव सामाजिक जीवन का अभिन्न अग बन गई है। आचरण की पुष्टता ही जीवन को प्रगतिशील एव उन्नायक बनाती है।

व्यवहार, अभ्यास एव आचरण के चरण उठाते समय इस विषय की ओर ध्यान अवश्य आकर्षित होना चाहिये कि समग्र वस्तु-ज्ञान को तीन भागो मे विभाजित किया जाय—ज्ञेय, हेय एव उपादेय। ज्ञेय वह जो सिर्फ जानने लायक है—आचरण का उससे सम्बन्ध नहीं। जिनका आचरण से सीधा सम्बन्ध है—वे हैं हेय और उपादेय। हेय जो छोडने लायक और उपादेय जो ग्रहण करने लायक हैं। छोडने और ग्रहण करने का क्रम साथ २ चलता है। विषमता छोडनी है तो समता ग्रहण करनी है। आचरण के इन चरणों मे छोडने और ग्रहण करने की गति साथ २ चलती रहनी चाहिये।

हेय और उपादेय के आचरण सूत्र

जीवन अविकसित है इसलिये उसका विकास करना है, अधकार होता है तभी प्रकाश पाने की उत्कठा जागती है, विषमता है इस कारण ही समता लाने का सत्साहस पैदा होता है। तो अविकास, अधकार और विषमता—ये बुराइयाँ हैं। पहले बुराइयों को छोडेगे तभी अच्छाइयाँ आ सकेगी। बुराई हेय है और अच्छाई उपादेय। इसलिये हेय को छोडें और उपादेय को ग्रहण करते जाय—इसका व्यवहार, अभ्यास एव आचरण का क्रम क्रमशः चलता रहना चाहिये।

विकास आयगा ही तब जब अविकास छूटेगा या इसे यों कहे तब भी वही बात है कि अविकास से जितनी मुक्ति मिलेगी, उतना ही विकास जीवन मे समाता जायगा। घटाटोप अधकार होता है—उसमे एक लौ जलती है, क्षीण ही सही कुछ प्रकाश फैलता है। वही लौ तेज होती है और हजार-लाख वोट का बल्ब बन जाती है—चकाचौंध प्रकाश फैल जाता है, कोनो मे भी अधेरा ढूढे नहीं मिलता। यही जीवन मे निर्मलता के उद्गम की स्थिति होती है।

रह सकेगा ? सन्तजन आत्म-साधना भी कर सकते है तथा उपदेश की धारा बहाकर समाज की सेवा भी कर सकते हैं—क्या यह बाती से बाती को जलाना नही ? "परोपकाराय सतां विभूतयः"—यह क्यो कहा गया है ? क्या इसलिये नहीं कि परोपकार मे स्वोपकार तो स्वतः ही हो जाता है। व्यक्ति आगे बढता रहे और गिरे हुओ को उठाता रहे—यही तो जीवन-धर्म है। समता के इस जीवन-दर्शन को पुष्ट बनाने के लिये व्यक्ति को पहले समतामय जीवन-निर्माण की दिशा मे अग्रसर होना चाहिये।

व्यवहार, अभ्यास एवं आचरण के चरण

समता दर्शन के इस दूसरे सोपान पर पैर रखते हुए व्यवहार, अभ्यास एव आचरण के चरण सन्तुलित बनने चाहिये। दर्शन के एक बिन्दु को व्यवहार मे लिया तो यह सरल नही है कि क्रिया का वह कदम तुरन्त जम जाय। साधना-पथ पर आशा निराशा के झौके आते है, कठिनाइयाँ मार्ग को रोकती हैं तो कभी मन की दुर्बलताएँ भी हताशा उत्पन्न करती हैं, अतः व्यवहार के बाद अभ्यास की आवश्यकता होती है।

अभ्यास का अर्थ होता है बार बार उसका व्यवहार। एक सिद्धान्त को जीवन मे उतारा—कुछ व्यवहार किया और मन डगमगा गया। व्यवहार का क्रम टूट गया। किन्तु अभ्यास उसे फिर पकडता है, फिर आजमाता है और तबतक आजमाता जाता है जबतक वह मन को पूरे तौर पर भा न जाय—जीवन मे पक्के तौर पर उतर न जाय। अभ्यास की इस सफल प्रक्रिया से आचरण का निर्माण होता है।

आचरण एक स्थायी स्थिति बन जाती है। जिस सिद्धान्त को अभ्यास से जीवन मे कार्यान्वित कर लिया तब वह जीवन का स्थायी अग बन जाता है और इसे ही आचरण कहते है। आचरण जीवन को एक सांचे मे ढाल देता है। जब हम यह कहे कि व्यक्ति या समाज ने समतामय आचरण बना लिया है तो उसका यही अर्थ होगा कि समता

वैयक्तिक एव मामाजिक जीवन का अभिन्न अग वन गई है। आचरण की पुष्टता ही जीवन को प्रगतिशील एव उन्नायक वनाती है।

व्यवहार, अभ्यास एव आचरण के चरण उठाते समय इस विपय की ओर ध्यान अवश्य आकर्षित होना चाहिये कि समग्र वस्तु-ज्ञान को तीन भागों मे विभाजित किया जाय—ज्ञेय, हेय एव उपादेय। ज्ञेय वह जो सिर्फ जानने लायक है—आचरण का उससे सम्वन्ध नहीं। जिनका आचरण से सीधा सम्वन्ध है—वे हैं हेय और उपादेय। हेय जो छोडने लायक और उपादेय जो ग्रहण करने लायक हैं। छोडने और ग्रहण करने का क्रम साथ २ चलता है। विषमता छोडनी है तो समता ग्रहण करनी है। आचरण के इन चरणों मे छोडने और ग्रहण करने की गति साथ २ चलती रहनी चाहिये।

हेय और उपादेय के आचरण सूत्र

जीवन अविकसित है इसलिये उसका विकास करना है, अधकार होता हैं तभी प्रकाश पाने की उत्कठा जागती है, विषमता है इस कारण ही समता लाने का सत्साहस पैदा होता है। तो अविकास, अधकार और विपमता—ये वुराइयाँ हैं। पहले वुराइयो को छोडे गे तभी अच्छाइयाँ आ सकेगी। वुराई हेय है और अच्छाई उपादेय। इसलिये हेय को छोडें और उपादेय को ग्रहण करते जाय—इसका व्यवहार, अभ्यास एव आचरण का क्रम क्रमशः चलता रहना चाहिये।

विकास आयगा ही तव जव अविकास छूटेगा या इसे यों कहे तव भी वही वात है कि अविकास से जितनी मुक्ति मिलेगी, उतना ही विकास जीवन मे समाता जायगा। घटाटोप अधकार होता है—उसमे एक लौ जलती है, क्षीण ही सही कुछ प्रकाश फैलता है। वही लौ तेज होती है और हजार-लाख वॉट का वल्व वन जाती है—चकाचौंध प्रकाश फैल जाता है, कोनो मे भी अधेरा ढूढे नही मिलता। यही जीवन मे निर्मलता के उद्गम की स्थिति होती है।

रह सकेगा ? सन्तजन आत्म-साधना भी कर सकते हैं तथा उपदेश की धारा बहाकर समाज की सेवा भी कर सकते हैं—क्या यह बाती से बाती को जलाना नही ? "परोपकाराय सतां विभूतयः"—यह क्यो कहा गया है ? क्या इसलिये नहीं कि परोपकार मे स्वोपकार तो स्वतः ही हो जाता है। व्यक्ति आगे बढता रहे और गिरे हुओ को उठाता रहे—यही तो जीवन-धर्म है। समता के इस जीवन-दर्शन को पुष्ट बनाने के लिये व्यक्ति को पहले समतामय जीवन-निर्माण की दिशा मे अग्रसर होना चाहिये।

व्यवहार, अभ्यास एवं आचरण के चरण

समता दर्शन के इस दूसरे सोपान पर पैर रखते हुए व्यवहार, अभ्यास एव आचरण के चरण सन्तुलित बनने चाहिये। दर्शन के एक बिन्दु को व्यवहार मे लिया तो यह सरल नहीं है कि क्रिया का वह कदम तुरन्त जम जाय। साधना-पथ पर आशा निराशा के झौके आते हैं, कठिनाइयाँ मार्ग को रोकती हैं तो कभी मन की दुर्बलताएँ भी हताशा उत्पन्न करती हैं, अतः व्यवहार के बाद अभ्यास की आवश्यकता होती है।

अभ्यास का अर्थ होता है बार बार उसका व्यवहार। एक सिद्धान्त को जीवन मे उतारा—कुछ व्यवहार किया और मन डगमगा गया। व्यवहार का क्रम टूट गया। किन्तु अभ्यास उसे फिर पकडता है, फिर आजमाता है और तबतक आजमाता जाता है जबतक वह मन को पूरे तौर पर भा न जाय—जीवन मे पक्के तौर पर उतर न जाय। अभ्यास की इस सफल प्रक्रिया से आचरण का निर्माण होता है।

आचरण एक स्थायी स्थिति बन जाती है। जिस सिद्धान्त को अभ्यास से जीवन मे कार्यान्वित कर लिया तब वह जीवन का स्थायी अग बन जाता है और इसे ही आचरण कहते हैं। आचरण जीवन को एक सांचे मे ढाल देता है। जब हम यह कहे कि व्यक्ति या समाज ने समतामय आचरण बना लिया है तो उसका यही अर्थ होगा कि समता

वैयक्तिक एव सामाजिक जीवन का अभिन्न अग वन गई है। आचरण की पुष्टता ही जीवन को प्रगतिशील एव उन्नायक वनाती है।

व्यवहार, अभ्यास एव आचरण के चरण उठाते समय इस विषय की ओर ध्यान अवश्य आकर्षित होना चाहिये कि समग्र वस्तु-ज्ञान को तीन भागों मे विभाजित किया जाय—ज्ञेय, हेय एव उपादेय। ज्ञेय वह जो सिर्फ जानने लायक है—आचरण का उससे सम्वन्ध नहीं। जिनका आचरण से सीधा सम्वन्ध है—वे हैं हेय और उपादेय। हेय जो छोडने लायक और उपादेय जो ग्रहण करने लायक हैं। छोडने और ग्रहण करने का क्रम साथ २ चलता है। विषमता छोडनी है तो समता ग्रहण करनी है। आचरण के इन चरणों मे छोडने और ग्रहण करने की गति साथ २ चलती रहनी चाहिये।

हेय और उपादेय के आचरण सूत्र

जीवन अविकसित है इसलिये उसका विकास करना है, अधकार होता है तभी प्रकाश पाने की उत्कठा जागती है, विषमता है इस कारण ही समता लाने का सत्साहस पैदा होता है। तो अविकास, अधकार और विषमता—ये वुराइयाँ हैं। पहले वुराइयो का छोडेगे तभी अच्छाइयाँ आ सकेगी। वुराई हेय है और अच्छाई उपादेय। इसलिये हेय को छोडें और उपादेय को ग्रहण करते जाय—इसका व्यवहार, अभ्यास एव आचरण का क्रम क्रमश' चलता रहना चाहिये।

विकास आयगा ही तव जव अविकास छूटेगा या इसे यों कहे तव भी वही वात है कि अविकास से जितनी मुक्ति मिलेगी, उतना ही विकास जीवन मे समाता जायगा। घटाटोप अधकार होता है—उसमे एक लौ जलती है, क्षीण ही सही कुछ प्रकाश फैलता है। वही लौ तेज होती है और हजार-लाख वोट का वल्व वन जाती है—चकाचौंध प्रकाश फैल जाता है, कोनों मे भी अधेरा ढूढे नही मिलता। यही जीवन मे निर्मलता के उद्गम की स्थिति होती है।

आज के विषम जीवन को देखे तो मैल ही मैल है—हेय की गिनती नही। किन्तु जब मैल धोने का काम शुरू करें—एक २ हेय को भी छोडते रहे तो आखिर मैल कम होगा ही। ज्ञानमय आचरण की गति सुस्थिर बनी रही तो हेय एक नही बचेगा—उपादेय सभी आ मिलेगे—फिर जीवन निर्मलता का पर्यायवाची बन जायगा।

आचरण के विभिन्न सूत्रों को समता जीवन की साधना करते समय इसी दृष्टि-बिन्दु से पकडा जाना चाहिये ताकि हेय के बन्धन कटते जाय और उपादेय के सूत्र जुडते जांय। जीवन-दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा को जगाने के निमित्त से इसी दृष्टि बिन्दु के आधार पर यहाँ आचरण सूत्र दिये जा रहे है।

१ः

आचरण-शुद्धि का पहला पग:
सप्त कुव्यसन का त्याग

समता मार्ग के साधक को प्राथमिक शुद्धिरूप सप्त कुव्यसनो का का त्याग तो करना ही चाहिये। ये कुव्यसन जीवन को पतन के गर्त मे डुबोनेवाले तो होते ही है किन्तु समाज मे भी इनका बुरा असर पडता है। ओर पतन को सभावनाओं को स्थायी भाव मिलता है। इन सात कुव्यसनो के सम्बन्ध मे निम्न जानकारी जरूरी है—

(१) मास भक्षण—समता के ससार मे प्रत्येक जीव को दूसरे जीव को रक्षा मे आस्था रखनी चाहिये—'जीवो जीवस्य रक्षणम्'। फिर मास खाने का मूल अभिप्राय ही इस वृत्ति के विपरीत जाता है। अपने लिये जीव को मारे और मांस भक्षण करे—यह तो विपमता को पूजना हुआ। दूसरे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आज पश्चिमी ससार मे शाका-हार की आवाज उठ रही है और मांस भक्षण को हानिकारक वताया जाता है। यह तामसिक भोजन विकारों को पैदा भी करता है। अतः इसको छोडना अनिवार्य समझा जाना चाहिये।

(२) *मदिरा पान*—देश भर मे आज शराबबन्दी के बारे मे जो उग्र आन्दोलन चल रहा है तथा सरकार भी आय का लोभ नही छोड पा रही है वरना शराब की बुराई को तो त्याज्य मानती है—इसमे ही शराब के कुप्रभाव का अनुमान कर लेना चाहिये। शराब को समस्त बुराइयो की जड कहदें तो भी कोई अत्युक्ति नही होगी। गाजा, भाग, धतूरा और आज की एल० एस० डी० की गोलियो आदि के सारे नशो का त्याग मदिरा त्याग के साथ ही आवश्यक समझा जाना चाहिये।

(३) *जुआ*—जहाँ भी बिना परिश्रम अनर्थ तरीकों से धन आने का स्रोत हो उसे जुए की ही श्रेणी मे लेना चाहिये। इस नजर मे सट्टा व तस्कर व्यापार भी त्याज्य है। बिना श्रम का धन व्यसनों की बढोतरी मे ही खर्च होता है।

(४ *चोरी*—चोरी की व्याख्या को भी सूक्ष्म रीति से समझने की जरूरत है। दूसरे के परिश्रम की आय को व्यक्त या अव्यक्त रूप से स्वय ले लेना भी चोरी है। यही आज के आर्थिक शोषण का रूप है। टैक्स चोरी भी उसका ही दूसरा रूप है। चोरी सदा सत्य का हनन करती है, अतः त्याज्य है ही।

(५ *शिकार*—सर्वजीव रक्षण की भावना मे अपने मनोविनोद के लिये जीवहरण सर्वदा निन्दनीय है।

(६) *परस्त्री गमन*—समाज मे सेक्स की स्वच्छता को बनाये रखने के उद्देश्य से ही विवाह संस्था का प्रारम्भ हुआ था। काम का विकार अति प्रबल होता है और उसे नियमित एव संयमित करने के लिये संसारी मनुष्य के लिये स्वस्त्री सन्तोष का व्रत बनाया गया है। यदि काम के आवेग को छूट दे दी जाय तो वह कितने अनर्थों एव अपराधों की लडी बांध देगा—इसका कोई हिसाब नही। परस्त्रीगमन तो इस कारण भी जघन्य अपराध माना जाना चाहिये कि ऐसा दुष्ट पुरुष दो या अनेक परिवारो के सदाचरण को नष्ट करता है।

(७) *वेश्या गमन*—यह दुर्व्यसन सारे समाज के लिये घातक है जो नारी उसे पवित्र जीवन से मोरी के कीडों की तरह पतित बनाता है।

आज राज्य और समाज इसका विरोधी बन चुका है तथा वेश्याओं के धन्धे को समाप्त कर रहा है। फिर भी व्यक्ति का सयम इसे समाप्त करने मे विशेष सहायक बन सकेगा।

इन सातों कुव्यसनों के वैयक्तिक एवं सामाजिक कुप्रभावो को ध्यान मे रखते हुए इनके त्वरित परित्याग की ओर कदम आगे बढने ही चाहिये।

·२·

पंच व्रतो के आचरण से
समता विकास को दिशा मे—

हेय और उपादेय का क्रम साथ २ ही चलना चाहिये। सप्त कुव्यसन हेय हैं तो उनसे सम्बन्धित सदाचरण उपादेय। इसी प्रकार अब पच व्रतो का जो उल्लेख किया जा रहा है, वे उपादेय है तो उनका विरोधी आचरण हेय माना जायगा। ये पांचो व्रत स्थूल रूप से श्रावको के लिये तो सूक्ष्म रूप से साधुओ के लिये पालनीय बताये गये हैं, अतः समता के साधक को यथाशक्ति इनके पालन मे निरन्तर आगे बढते रहना चाहिये।

इन पच व्रतो के आचरण से समता विकास को दिशा मे ठोस काम किये जा सकेंगे—

(१) *अहिंसा*—अहिंसा के दो पक्ष है—नकारात्मक एव स्वीकारात्मक। नकारात्मक तो यह कि हिंसा नहीं की जाय। हिंसा क्या ? किसी भी जीवनधारी के किसी भी प्राण को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। जैसे जीवन के दस प्राण माने गये है—श्रुतेन्द्रिय बल प्राण, चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण, घ्राणेन्द्रिय बल प्राण, रसेन्द्रिय बल प्राण, स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण, मन बल प्राण, वचन बल प्राण, काया बल प्राण, श्वोसोश्वास बल प्राण एवं आयुष्य बल प्राण। अब किसी इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास या आयुष्य के बल को कष्ट पहुँचावें तो वह भी हिंसा है। कष्ट भी कैसे ? उनके उचित ग्राह्य मे बाधा पहुचावे या उनके बल पर आघात करे तो

उन प्राणों को कष्ट होगा। यह तो नकारात्मक बात। अब स्वीकारात्मक बात यह होगी कि प्रत्येक जीवनधारी के दसों प्राणों की रक्षा का यत्न हो—प्राणों को किसी की ओर से या स्वयं कष्ट हो तो उसे यथासाध्य यथाशक्ति दूर किया जाय तथा सभी जीवनधारियों को समता के धरातल पर खड़ा करने की स्वयं की वृत्ति बनाई जाय तथा वैसी सामाजिक प्रणाली निर्मित की जाय। अहिंसा का इसे स्थूल रूप कहेंगे।

अहिंसा का सूक्ष्म रूप मन से सम्बन्धित है। मानसिक एवं वैचारिक रूप से भी किसी के मन को कष्ट न दें तथा जहाँ ऐसा मतभेद हो वहाँ उसे स्वस्थ रीति से दूर करें - यह भी आवश्यक है। इन्द्रियों को कष्ट के भाव से कष्ट न पहुँचाना या कष्ट दूर करना उनके द्वारा भोग्य-पदार्थों के समुचित वितरण पर निर्भर करेगा। इस प्रकार अहिंसा का व्यापक रूप समाज में व्यक्ति के सम-जीवन के निर्धारण में पूर्णरूप से सक्षम एवं प्रभावकारी हो सकता है।

(२) *सत्य*—सत्य क्या और मिथ्या क्या—यह पूर्णतः आत्मा की ज्ञान एवं चिन्तन दशा तथा अन्तर्-अनुभूति के निर्णायक विषय हैं। उनके स्थूल रूप तो सभी प्राणियों के बोध-गम्य हो जाते हैं जो इन्द्रियों के माध्यम से जाने जाते हैं जो आँखों से देखा है—वह सच और उसके खिलाफ कहा जाय तो वह झूठ। इसी आधार को सामान्य जन के मानस से विशिष्ट महापुरुषों के मानस तक ले जावें तो यह कहा जायगा कि वे अन्तर्दर्शन से जीवन के जिन अज्ञात सत्यों की शोध करते हैं, वह शोध सामान्य जन के लिये अनुकरणीय हो जाती है और तब उसी शोध के आधार पर सत्यासत्य का निर्णय किया जाता है। जैसे वीतराग वाणी को सत्य कहते हैं—इसलिये कि आत्मोन्नति की उच्चस्थ श्रेणियों में राग द्वेष से विहीन होकर निरपेक्ष भाव से जो सत्यावलोकन वीतराग पुरुषों ने किया, वह आदर्श बन गया। वह एक तरह से प्रकाश स्तम्भ का काम करता है कि उसे देखकर जीवन के अंधेरों को पार किया जाय।

सभी प्रकार से मिथ्या को छोड़ना एवं सत्य का अनुसरण एवं अन्वेषण करना सच्चा मानव का कर्तव्य है। लौकिक वस्तुस्थिति

हो या अलौकिक—सत्य सदा जीवन के साथ होना चाहिये। सत्य साथ तभी सुदृढता से रह सकेगा जब उसके स्तर से आत्मानुभूति को विचार एव आचार की उत्कृष्टता एव शुद्धता के बल पर विकसित कर ली जाय। सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है—वह तभी होता है जब जीवन-विकास विकास की चोटी पर चढ जाय। इसलिये सत्य के प्रति सतत निष्ठा मनुष्य को समता की परम श्रेष्ठता तक पहुचाती है।

(३) *अस्तेय*—व्यक्ति के एकाकी जीवन से समाज मे प्रतिक्षण गु थे हुए उसके आज के जीवन तक जो सासारिक परिस्थितियो का विकास हुआ है, उसमे अर्थ, सम्पत्ति या परिग्रह तथा उसके अधिकार सम्बन्धों का अमित प्रभाव रहा है। प्रकृति आधारित जब व्यक्ति का जीवनयापन छूट गया और वह स्वय अर्जन करने लगा तभी से अर्थ का असर भी आरम्भ हुआ। जो ज्यादा कमाता और कमाकर उसकी रक्षा मे भी समर्थ बनता, वह समाज मे भी अधिक शक्तिशाली कहलाता। जो कमा लेता, मगर उसकी सुरक्षा का सामथ्य पैदा नही कर सकता था, वह फिर भी कमजोर वर्ग मे ही रहता।

चोरी का अध्याय वही से शुरू होता है जब समर्थ कमजोर की सम्पत्ति हरने लगा। चोर पूरा समर्थ होता तो डाकू बन जाता, कम समर्थ होता तो चुपके से चोरी कर लेता। अब आज की जटिल आर्थिक परिस्थितियों मे चोरी के रूप भी जटिल हो गये है। एक कारखाने मे एक मजदूर दिन भर मे दस रुपये के मूल्य का उत्पादन करता है और यदि उसे चार रुपया ही मजदूरी दी जाती है जबकि कानूनन उन चार रुपये को पांच या अधिक दिखाया जाता है तो यह पाच या अधिक रुपये प्रति दिन की प्रति मजदूर से चोरी ही हुई। इस चोरी को खुले तौर पर चोरी समझा नही जाता है तथा चोर को प्रतिष्ठा ही मिलती है—यह दूसरी बात है। तो अस्तेय का अर्थ है चोरी के स्थूल या सूक्ष्म सभी रूपो को निरन्तर छोडते जाना तथा अचौर्य्य व्रत को सुदृढ बनाते जाना।

आज के अर्थ-प्रधान युग मे अस्तेय व्रत का बहुत ही महत्त्व है। चाहे मजदूर की चोरी हो या सरकार की चोरी—सभी चोरियां न्यूनाधिक रूप से निन्दनीय मानी जानी चाहिये। अस्तेय व्रत का यह असर होना चाहिये कि ससार मे सभी नीतिपूर्वक अर्जन करें और जो भी अर्जन करें, वह स्वय के शुद्ध श्रम पर आधारित होना चाहिये। यह श्रम भी समाजोपयोगी श्रम होना चाहिये। व्यक्ति का श्रमनिष्ठ अर्जन व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन मे नैतिकता, शुद्धता एव समता का सचार करेगा।

(४) *ब्रह्मचर्य*—गहराई से देखा जाय तो ससार की सारी समस्याओ का निचोड दो समस्याओ मे लिया जा सकता है और वे दो समस्याएँ है—१ रोटी की समस्या और २ सैक्स की समस्या। सैक्स अर्थात् काम की वासना। किसी भी जीवधारी मे सामान्यतया आहार, निद्रा व भय के अलावा मिथुन वृत्ति को भी कर्म-प्रकृति-प्रदत्त अनादि माना गया है। ससार के क्रम को बनाये रखने वाला यह मिथुन भी होता है। काम प्रजनन और वासना का कारण होता है और प्रजनन से ससार का क्रम चलता है।

काम-वासना का वेग अति प्रबल होता है और इस अन्धड मे कई बार बड़े बड़े ऋषि-महर्षि भी गिरकर चकनाचूर हो जाते हैं। अत. इसे नियमित एव सयमित करने के प्रयास भी बराबर चलते रहे हैं और काम जय करके निर्विकारी पुरुषों ने श्रेष्ठ आदर्शों की स्थापना भी इस दिशा मे की है। सासारिक जीवन मे मिथुन की मर्यादा की गई है तो साधु जीवन मे इस विकार का मन से भी निकाल देने की प्रेरणा दी गई है।

सासारिक जीवन मे विवाह एव परिवार सस्थाओ के निर्माण का लक्ष्य काम वासना को नियमित करना ही था। उन्मुक्त सैक्स को समाज के लिये घातक माना गया। काम-वासना के परिसेवन को जितने अशो मे रोका जा सकता है उतनी ही व्यवहार-स्वच्छता व्यक्ति मे रहेगी। कानूनो का भी इस दिशा मे यही लक्ष्य रहा है।

काम-वासना के निरोध एव उन्मूलन मे बलात् प्रयोगों की अपेक्षा स्वेच्छित प्रयोग ही अधिक सफल हो सकता है और वह प्रयोग है ब्रह्मचर्य्य का। अपनी इच्छा एव सकल्प शक्ति के जरिये मिथुन-वृत्ति को धीरे-धीरे उसके वैचारिक, वाचनिक एव कायिक तीनों रूपो मे नियन्त्रित करें व समाप्त करें—यह ब्रह्मचर्य्य की आराधना होगी। ब्रह्मचर्य्य का तेज समता साधना मे परम सहायक होगा। इसका व्यापक अर्थ भी है पर यहॉ नही दिया गया।

(५) *अपरिग्रह*—भौतिक साधन एव उसमे रहने वाले ममत्व भाव को परिग्रह के रूप मे परिभाषित किया गया है जिसमे भी मुख्य ममत्व या मूर्छा को माना गया है। परिग्रह परिग्रह के प्रति मूर्छा को उत्पन्न करता है और जीवन मे जितनी मूर्छा गहरी होती है, जागृति उतनी ही लुप्त होती चली जाती है। आत्मा की चेतना को भुलाने वाला यह परिग्रह होता है और उससे भी घातक होती है परिग्रह को अधिक से अधिक प्राप्त करने की अन्तहीन वितृष्णा। यही वितृष्णा विषमता की माँ होती है। व्यक्ति की वितृष्णा बढती है तब वह नीति छोड कर येन केन प्रकारेण धनार्जन एव धन-सचय करना चाहता है—सारा विवेक, सदाशय एव न्याय-विचार खोकर, तब विषमता का दौरदौरा चलता है। भाई सगे भाई को भी अपना मानना छोडने लगता है। भाई, पिता, माता, धर्म और ईश्वर सभी का स्थान एक परिग्रही के लिये तृष्णा ले लेती है।

समता का सबसे बडा शत्रु परिग्रह है, अतः अपरिग्रह व्रत इसके गूढार्थ मे समझा जाना चाहिये तथा व्यवहार मे सिर्फ पदार्थों के त्याग को ही नही, तृष्णा-त्याग को अधिकतम महत्त्व दिया जाना चाहिये। इस धन लोलुपता ने आज के विषम ससार मे जो हाहाकार मचा रखा है और मानवता को कुचल रखी है—इसके रहते समता व्यवस्था की आशा दुराशा मात्र होगी। परिग्रह मे धन-सम्पत्ति के सिवाय सत्ता, पद या यश सभी का समावेश हो जाता है। परिग्रह की समतापूर्ण व्यवस्था हो—उसका ससार मे जीवन-सचालन के लिये उपयोग भी हो किन्तु

ज्यो ही उसके प्रति ममत्व-मूर्छा क्षीण हो जायगी तो परिग्रह फिर अनर्थकारो नहीं रह जायगा—जीवन के स्वस्थ-सचालन का साधन मात्र हो जायगा।

साधु को भी रोटी चाहिये, किन्तु वह रोटी के प्रति ममत्व नही रखता—निरपेक्ष भाव से उसे ग्रहण करता है। उसी तरह जब जीवन के लिये परिग्रह होगा - परिग्रह के लिये जीवन को मिट्टी मे नहीं मिलाया जायगा तभी समता जीवन का अभ्युदय हो सकेगा। यही अपरिग्रह व्रत का गूढार्थ है।

इन पाच व्रतों का यथा-शक्ति यथाविकास पालन ज्यों-ज्यों जीवन मे बढता जायगा, निश्चित है व्यक्ति के इस पालन का सामाजिक प्रभाव होगा और दोंनो प्रभाव मिलकर समता-विकास के लिये सुन्दर वातावरण की रचना करेंगे।

:३:

क्षेत्र की गरिमा एव पद की
मर्यादा के अनुसार प्रामाणिकता—

अर्थ-प्रधान युग का मानसिक दृष्टि से यह भी एक भयकर कुपरिणाम माना जाना चाहिये कि आज का मानव अधिक से अधिक दभी और पाखडी (हिप्पोक्रेट) बनता जा रहा है। जो जीवन मे प्रामाणिक रहना भी चाहता है, अधिक बार वातावरण उसे प्रामाणिक नहीं रहने देता। वर्तमान समाज व राज की जो व्यवस्था है—इसने भी पाखड वृत्ति को काफी बढाई है। समाज का समूचा वातावरण ऐसा बन गया है कि जो है कुछ और तथा अपने को बताता है कुछ और—वैसा दभी एक के बाद दूसरी सफलताएँ प्राप्त करता रहता है—राजनीति और समाज मे ऊँची से ऊँची प्रतिष्ठा तथा ऊँचे पद पाता रहता है। इसके विपरीत जो अन्दर बाहर को एक रूप मे प्रकट करता हुआ चलना चाहता है, उसके सामने पग-पग पर कठिनाइयाँ आती हैं। उसकी

उन्नति तो दूर—सामान्य रूप से चलना भी दूभर हो जाता है। यह व्यक्ति और समाज की विषमताओ का कुफल है।

विडम्बना तो यह है कि लोग जिसके पाखड को जान लेते है उसे भी इसलिये प्रतिष्ठा देते रहते है कि वह सफल होता जा रहा है। इसका सीधा असर जन मानस पर यह होता है कि दभ और पाखण्ड को ग्रहण किया जाय। यह उच्च वर्ग का विष आज इस तरह सब ओर रमने लगा है कि दिया लेकर भी प्रामाणिकता को खोज निकालना कठिन हो गया है। दभ, छल, कपट और पाखड आज की व्यवहारिकता के सूत्र वनते जा रहे है। इसका एक सादा सा उदाहरण ले। एक सज्जन व्यक्ति से किसी ने दस रुपये का नोट उधार मांगा नोट उसकी जेब मे है किन्तु मागने वाले की अप्रामाणिकता के कारण वह उसे उधार देना नहीं चाहता। तो उसे स्पष्ट इन्कार करके उसे उसके चरित्र के प्रति सजग बनाना चाहिये। किन्तु वह व्यवहारिकता के चक्कर मे पड जाता है कि व्यर्थ मे क्यो किसी को नाराज करें—इस कारण वह झट जवाब दे देता है—इस समय उसके पास रुपये नहीं है। सांप भी नहीं मरा, लाठी भी नहीं टूटी—यह व्यवहारिकता वन रही है।

प्रामाणिकता की जीवन के सभी अगो मे प्राण-प्रतिष्ठा आज की प्रवल आवश्यकता है और यह उच्चवर्ग का प्रमुख दायित्व है। जो जितने अच्छे क्षेत्र मे काम करता है और जितने ऊँचे पद पर जाता है, उसकी प्रामाणिकता के प्रति अधिक से अधिक जिम्मेदारी बनती है—इसी कारण यहाँ की गरिमा एव पद की मर्यादा के अनुसार प्रामाणिकता लाने पर वल दिया जा रहा है। प्रामाणिकता की धारा उन लोगो से वहेगी तभी वह सारे समाज मे फैलेगी जो समाज मे किसी भी नजर से जिम्मेदार जगहों पर काम करते है अथवा परम आध्यात्मिक हैं।

जहाँ पाखड, दभ या हिप्पोक्रेसी है, वहाँ मन वाणी और कर्म की एकरूपता का प्रश्न ही नहीं तो उस आचरण से भयकर विषमता ही तो फैलेगी। समता लानी है तो दभी-वृत्ति को मिटानी पड़ेगी और जितना अधिक दायित्व, उतना ही अधिक प्रामाणिक वनना होगा।

यह पाखड तो समता के मूल पर ही आघात करता है चाहे वह समता सासारिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखती हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र से। आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो पाखड का अस्तित्व ही घातक होता है जबकि वस्तुस्थिति ऐसी भी है कि धर्म और सम्प्रदायों के नाम पर भी भयकर पाखड चलता है। यह जटिल और विषम स्थिति है।

समता साधक के जीवन का प्रत्येक विचार, वचन और कार्य प्रामाणिकता के धरातल से ही जन्म लेना चाहिये एव प्रशिक्षण प्रामाणिक बना रहना चाहिये। दभ या पाखड का किसी भी रूप मे उससे छूना भी जघन्य अपराध माना जाना चाहिये। अप्रामाणिकता जब तक है, जीवन मे सच्चा ज्ञान नहीं आ सकता, सच्चा चिन्तन नही हो सकता—तव आचरण की सच्चाई का वनना तो सभव ही नही है। सबसे वडा परिवर्तन आज के इस अप्रामाणिक जीवन मे लाना है—इसे कतई नहीं भूलें।

:४:

निष्कपट भाव से मर्यादा, नियम एव सयम का अनुपालन

कपट रहने पर प्रामाणिकता आती है और इसके आने पर जीवन मे एक स्वस्थ एव व्यवस्थित परिपाटी के निर्माण का सकल्प जागता है। इसी व्यवस्था का नाम है मर्यादा, नियम एव सयम का अनुपालन। मर्यादाएँ वे जो समाज एव व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धो के सुचारु रूप से निर्वहन के हित परम्पराओं के रूप मे ढल गई है। परम्पराओं के लिये भी परख बुद्धि की जरूरत होगी। कई बार अज्ञान दशा मे गलत परम्पराएँ भी बन जाती हैं अथवा भावशून्य हो जाने से कालावधि मे परम्पराएँ रूढ भी हो जाती है। अतः ऐसी परम्पराओं को मर्यादा रूप मे स्वीकार करना चाहिये जो समता जीवन को पुष्ट करती रही है अथवा आज भी वह क्षमता उनमे विद्यमान है। मर्यादाओं के निर्वाह मे भी केवल अन्धानुकरण नहीं होना चाहिये।

सामाजिक नियम वे जो व्यक्ति या किसी भी प्रकार के सगठन के अनुशासन हेतु बनाये जाते है और सम्बन्धितों द्वारा स्वीकार किये जाते है। नियम वे ही नही जो लेखबद्ध हों बल्कि वे भी जो आदर्श रूप हों। विकास की गति एक सी नहीं होती, अतः नियम भी सदा एक से नहीं रहते। यथासमय यथाविकास उनमे परिवर्तन आते रहते हैं किन्तु उनका उद्देश्य सदा एक सा रहता है कि उनका अनुपालन करके समाज एव व्यक्ति के सम्बन्धो मे तथा स्वय व्यक्ति के जीवन मे भी अनुशासन रहे और दृष्टि सम बने।

आधुनिक विधि के क्षेत्र मे तो यह बात गौरव से कही जाती है कि लोकतत्र मे व्यक्ति का राज नही होता बल्कि कानून का राज होता है। बडा से बडा और छोटा से छोटा व्यक्ति भी कानून के सामने समान गिना जाता है। इसे कानून कहिये या नियम—इनका मूल बहुमत की इच्छा मे होता है अथवा यो कहे कि सब सम्बन्धितों की स्वीकृत इच्छा के आधार पर ही नियमों की सृष्टि होती है जिसे सामाजिक शक्ति के रूप मे देखा जा सकता है। तब व्यक्ति बडा नहीं रहता—कानून या नियम बडा हो जाता है और उनके द्वारा व्यक्ति के जीवन को नियत्रित तथा सन्तुलित रखा जाता है। इस कारण नियम को विशेष महत्त्व है और नियम की व्यवस्था से सयुक्त जीवन को ही नियमित जीवन कहा जाता है।

समता का क्षेत्र नियम तक ही नही है। नियम बने किन्तु उसका पालन न हो तो दड व्यवस्था भी काम करे किन्तु इससे व्यक्ति के हृदय मे परिवतन लाना कम सभव होता है। किसी को उसके अपराधों के लिये दडित करना आसान है किन्तु उसमे भावनात्मक परिवर्तन लाना और उसके दिल को बदल देना उतना आसान नही होता। इसके लिये सयम की आवश्यकता होती है। नियम भग करने वाले के सामने अगर कोई अपना प्राप्य भी छोड दे और संयम का रुख अख्तियार कर ले तो वह नियम भग करने वाले के दिल को भी पलट सकता है। त्याग और सयम मे ऐसी ही दिव्य शक्ति होती है जो मनुष्य को उसके मनुष्यत्व से भी ऊपर उठाकर देवत्व के समीप ले जाती है।

मर्यादा, नियम एव सयम के अनुपालन मे निष्कपट भाव पहले जरूरी है। ऐसी अवस्था मे दो स्थितियाँ स्वतः ही टल जायगी जो है— विश्वासघात एव आत्मघात की स्थितियाँ। कपट नहीं छूटता तबतक मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिये हर किसी के साथ विश्वासघात का व्यवहार करता है। उसके मन, वचन और कर्म गाडी के पहिये को तरह घूम जाते हैं। ऐसा ही व्यक्ति आत्मघात के स्तर पर भी पहुच जाता है। कपट, माया, दभ और पाखड की वृत्ति से अपनी आत्मा की श्रेष्ठता की घात तो वह करता ही है किन्तु प्रतिशोध या आत्म-गलानि के भँवर मे पडकर वह कभी आत्म हत्या करने के लिये भी तैयार हो जाता है। इस दृष्टि से समता साधना के लिये निष्कपट भाव का होना अति आवश्यक माना गया है।

५

सर्वांगीण दायित्वो पर ईमानदारी से
विचार एव 'यथा' के साथ निर्वहन—

समाज मे रहते हुए व्यक्ति के कई पक्ष होते है और इसलिये उसके दायित्व भो बहुमुखी हो जाते हैं। अतः यथास्थान, यथावसर, यथा-शक्ति यथायोग्य रीति से ऐसे सर्वांगीण दायित्वों पर ईमानदारी से विचार किया जाय एव इन्हीं सब 'यथा' के साथ उनका निर्वहन किया जाय, तब व्यक्ति अपने स्वय के प्रति एव परिवार से लेकर समूचे प्राणी समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का समुचित रीति से पालन कर सकेगा एव सर्वत्र समता के स्थायी भाव को फैला सकेगा।

किसी भी कर्त्तव्य से कहीं भी च्युत होने का अर्थ ही यह होता है कि वहाँ आपने विषमता का पौधा रोप दिया। बुराई जल्दी जड पकडती है और फैलती है, उसी तरह विषमता भी एक वार पनप कर बहुत जल्दी पसर जाती है। अतः समता की महायात्रा मे कहीं भी

कर्त्तव्यहीनता की स्थिति नही आवे—इसकी सर्तकता सदैव वनी रहनी चाहिये।

जब परिग्रह की मूर्छा नही रहेगी और माया की छलना भी मिट जायगी, तब हृदय-पटल त्याग एव वलिदान (आत्म समर्पण) की भावना से अभिभूत हो जायगा और वह स्वत्त्व को विसर्जित कर विराट् रूप धारण लेगा याने कि उस उन्नत श्रेणी मे पहुच कर मनुष्य समूचे विश्व को आत्मसात् कर लेगा। उसका अपने पराये का भेद पूरे तौर पर समाप्त हो जायगा। वैसी मनोदशा मे दायित्वो का ईमानदारी से निर्वाह एक निष्ठापूर्ण कार्य वन जायगा और समाज शालीनता के ऐसे स्तर पर पहुच जायगा। जहाँ से समतामय व्यवहार की समरस धारा के सिवाय दूसरा कोई प्रवाह ही नही चलेगा।

६

सबके लिये एक और एक के लिये सब

व्यक्ति और समाज के जीवन मे तव समता के जीवन-दर्शन का ऐसा विकास परिलक्षित होगा कि 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त से भी आगे समता के सशक्त सहयोग की सबल पृष्ठभूमि बन जायगी और वह होगी--सबके लिये एक और एक के लिये सब। इसका अर्थ है विषमता के विष की आखिरी बूँदें भी सूख जायगी और सारा समाज वैयक्तिक एव नैतिक उत्थान के हित सहयोग एव एकता के सूत्र मे आबद्ध हो जायगा।

जब सहयोग एव सहानुभूति का वातावरण होता है तब समता के विकास का रूप एक और एक मिलकर दो की सख्या मे नहीं बल्कि एक और एक मिलकर ग्यारह की सख्या मे ढलता है। तब सामाजिक शक्ति से आश्वस्त होकर सभी के चरण समता प्राप्ति की दिशा मे तेजी से आगे बढ़ने लगते है।

:७:

सम्पूर्ण विश्व के साथ कुटुम्बवत् आत्मीय निष्ठा

समता के दर्शन एव व्यवहार का इसे चरम विकास मानना होगा कि व्यक्ति का व्यक्तित्व समूचे विश्व की परिधि तक प्रस्तारित हो जाय। जैसे अपने कुटुम्ब मे आप साधारणतया भेद-भाव भूल जाते हैं, कर्त्तव्यों का भी ध्यान रखते हैं एव सबकी यथायोग्य सेवा भी करना चाहते हैं तो उसका कारण यही होता है कि उस घटक मे आप अपनी आत्मीयता प्रस्थापित करते हैं। यह आत्मीयता रक्त से सम्बन्ध रखती है, किन्तु यदि इसी आत्मीयता का सम्बन्ध समता-दर्शन से जोड दिया जाय तो उसका विस्तार समूचे विश्व एव प्राणी-समाज तक भी फैलाया जा सकता है। रक्त के सम्बन्ध से भी भावना की शक्ति बडी होती है।

भारतीय सस्कृति मे "वसुधैव कुटुम्बकम्" की जो कल्पना की गई है, उसे समता-पथ पर चल कर ही साकार बनाई जा सकती है। सारे विश्व को बडा कुटुम्ब मान लें, उसे अपनी स्नेहपूर्ण आत्मीयता से रग दें तो भला क्यों नहीं ऐसी श्रेष्ठ कल्पना साकार हो सकेगी? मानव-जीवन के लिये विकास की कोई भी ऊँचाई कभी भी असाध्य मत मानिये। वह ऊँचाई नहीं मिलती—यह जीवन की कमजोरी हो सकती है, किन्तु जब भी जीवन-दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा से आप्लावित होकर समता मार्ग पर गति की जायगी, वह ऊँचाई मिल कर रहेगी।

सर्वाङ्गीण समता प्राप्ति के लक्ष्य के साथ भी यही तथ्य जुडा हुआ है। आवश्यकता है कि लक्ष्य के अनुसार सही दिशा मे जीवन को मोडा जाय तथा ज्ञान व आस्थापूर्ण आचरण से आगे बढा जाय।

:६:

आत्म-दर्शन के आनन्द पथ पर

समता का तीसरा सोपान—आत्म-दर्शन मनुष्य को ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की त्रिधारा में अवगाहन कराते हुए आनन्द पथ पर अग्रसर बनाएगा। आनन्द की आकांक्षा संसार मे प्रत्येक प्राणी को लगी हुई है। हर कोई हर समय सुखी रहना चाहता है और यह भी चाहता है कि उसे कभी दुःख न देखना पडे। आनन्द को आकांक्षा से ही जब मनुष्य के मन मे उल्लास छा जाता है तो कल्पना करें कि आनन्द का अनुभव कितना उल्लासकारी बनकर उसे आत्मविभोर बना देगा ?

किन्तु खेदजनक अवस्था यह है कि आनन्द की वास्तविकता को जांचने-परखने और सच्चे आनन्द का रहस्य जानने की मनोवृत्ति बहुत कम लोगों मे पाई जाती है। शाश्वत आनन्द की इच्छा रखते हुए भी इसी कारण अधिकतर लोग क्षणिक आनन्द के प्रलोभन मे पड कर शाश्वत दुःख की गलियों मे भटक जाते है। इनमे अज्ञानी लोग भटकते हों—वैसी ही बात नहीं है। वे अच्छे २ ज्ञानी औा कर्मठ लोग भी भटक जाते हैं जो आत्म-दर्शन की अवहेलना करते है और जिन्हे सब कुछ करने के बावजूद भी अपने ही 'मैं' की अनुभूति नही होती।

यह 'मैं' की अनुभूति क्या है ?

जिसने भी यह स्वर उठाया कि मैं ही ब्रह्म हूँ—मैं ही जगत् हूं और मैं ही सब-कुछ हूँ, वह स्वर अभिमान का स्वर नहीं, अनुभूति का स्वर था। जीवन मे जब मूर्छा, अज्ञान और पतन समाया रहता है तब उसका 'मैं' इतना क्षुद्र बन जाता है कि न तो वह खुद ही जागता है और न जगाने का काम भी कर सकता है। इसके विपरीत जब 'मैं' जागता है तो वह इतना विराट् बन जाता कि सारा ब्रह्म—सारा जगत् उसमे समा जाता है अर्थात् यह 'मैं' अपने को विगलित कर सब सबमे रल-मिल जाता हैं—सबको अपना लेता है और यही 'मैं' की उच्चस्थ अवस्था होती है तो यही समतामय जीवन का चरम विकास भी होता है।

ससारी आत्माओं का 'मैं' इतना सोया हुआ रहता है कि उसे खोजना, जगाना और कर्मनिष्ठ बनाना एक भगीरथ प्रयत्न से कम यहीं। इस 'मैं' का साक्षात्कार ही सत्य का साक्षात्कार है—ईश्वर का साक्षात्कार है। प्रत्येक मानव अपने आपको 'मैं' ही तो कहता है, किन्तु वह अपने इस 'मैं' को गलत-गलत जगहों पर आरोपित करता हुआ उसकी उसकी वास्तविकता से विस्मृत बना रहता है, इसी कारण वह अपने असली 'मैं' को आसानी से खोज नहीं पाता। विषमताजन्य परिस्थितियों मे डोलायमान रहते हुए वह बाह्य वातावरण से इतना प्रभावित बनता है कि अन्तर मे झाकने की उसे सज्ञा नहीं होती और अन्तर मे नहीं झाके तो इस 'मैं' को कैसे देखे या कि उसकी अनुभूति कैसे ले ?

पहले आत्मा को जानें !

"मैं" की अनुभूति की दिशा मे आगे बढने के लिये पहले आत्म-तत्त्व को जानना अनिवार्य है। एक मानव शरीर जिसे हम जीवित कहते हैं और दूसरे सद्य मृत मानव शरीर मे क्या अन्तर है ? एक क्षण पूर्व जो शरीर सचेतन था, जिसकी सारी इन्द्रियाँ और सारे अवयव काम कर रहे

थे और जिसमे भावनाओ का प्रवाह उमड रहा था, वह हृद्गति रूकी या और कुछ हुआ कि एक ही क्षण बाद मृत हो गया—चेतना, सज्ञा, क्रिया—सब समाप्त, यह क्या है ? यह मृत्यु क्या है और इसीके आधार पर सोचें कि यह जीवन क्या है ?

मानव शरीर अथवा अन्य शरीरो के सचालन की जो यह चेतना है — उसे ही तो आत्मा कहा गया है। यह चेतना जब तक है, शरीर को जीवित कहा जाता है और जब तक वह जीवित है तब तक जीवन है तथा जीवन की समाप्ति का नाम ही मृत्यु है। तो क्या जीवन के बाद मृत्यु के रूप मे शरीर ही नष्ट होता है अथवा उसकी चेतना भी नष्ट हो जाती है ? यदि शरीर के साथ आत्मा का भी नष्ट होना मान लिया जाय तो फिर नये-नये शरीरो में आत्माएं कहाँ से आयेंगी ?

आत्मा अमर तत्व है !

अतः आत्मा अमर तत्व है। मृत्यु के रूप मे केवल शरीर नष्ट होता है। आत्मा अपने कर्म के अनुसार पुनः नया शरीर धारण करती है अथवा कर्म-विमुक्ति हो जाने पर मोक्षगामी बनती है। आत्मा के लिये शरीर धारण करना वस्त्र-परिवर्तन के समान माना गया है तो प्रश्न उठता है कि यह शरीर क्या है और आत्मा शरीर मे आवद्ध क्यों होती हैं ?

यह दृश्यमान जगत् दो तत्त्वों के मेल पर टिका हुआ है। एक तत्त्व है जीव और दूसरा है अजीव। जीव के ही पर्यायवाची शब्द हैं चैतन्य, आत्मा आदि। यह जीव ससार मे इसलिये है कि अजीव के साथ वध कर जिस प्रकार के कर्म यह करता है उसके फल का भुगतान भी इसको लेना पड़ता है और विभिन्न शरीरो का धारण वही फल है। आत्मा जीव है—चैतन्य है और शरीर अजीव है—जड है। जड निष्क्रिय

होता है किन्तु चैतन्य जब उसमे मिल जाता है तो वह क्रियाशील हो जाता है। जीवन और मृत्यु का यही रहस्य है। यह अमर तत्त्व शरीर के रूप मे बार-बार मरता है और बार जन्म लेता है। ससार के सारे क्रिया-कलाप एव ससार स्वय का क्रम इसी जन्म-मरण के चक्र पर चलता है।

आत्मा की कर्म-संलग्नता

जब आत्मा मानव शरीर अथवा अन्य शरीर को धारण करती है तो वह एक नये जीवन के रूप मे ससार के रगमच पर आती हैं। तब उस जीवन मे जिस प्रकार के क्रिया-कलाप होते हैं, वैसे वैसे कर्म उसके साथ सलग्न होते है। इन कर्मो को पुद्गल रूप ही माना गया है। कर्म जड होते हुए भी सलग्न होने मे उसी प्रकार सक्रिय बनते हैं जिस प्रकार तैल मर्दन कर लेने पर बालू रेत पर सो जाने से रेत के कण उस शरीर के साथ स्वय चिपक जाने मे सक्रिय होते हैं। जीवन मे शुभ विचार आया, शुभ कार्य किया तो शुभ कर्म-पुद्गल सलग्न होंगे और अशुभ विचार या कार्य के परिणाम रूप अशुभ कर्म सलग्न होंगे। यह कर्मों का आत्मा के लिये एक बधन हो जाता है जो शरीर के छूट जाने पर भी आत्मा से नही छूटता।

शुभ या अशुभ जिस प्रकार के कर्म होते हैं, उनका इस या आगामी जीवनों मे आत्मा को फल भुगतना होता है। शुभ कर्मों के फलस्वरूप अच्छा जीवन और उसमे अच्छे सयोग मिलते हैं तो अशुभ कर्मों का फल अशुभ परिस्थितियों के रूप मे मिलता है। कर्मवाद का यही आधार है जिससे यह प्रेरणा मिलती है कि जीवन मे अच्छे कार्य किये जांय, श्रेष्ठ विचार एव वृत्तियाँ अपनाई जाय तथा इस "मैं" को पहिचान कर इसे कर्मों के बन्धन से मुक्त किया जाय।

आत्मानुभूति की जागरणा

जड और चेतन तत्त्वों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'मैं' शरीर मे बैठा है, फिर भी शरीर से अलग है और शरीर से ऊपर है, क्योकि यह "मैं" नहीं तो शरोर नहीं। अतः जिसके आश्रय से यह शरीर है, वह यह 'मैं' हैं, आत्मा है। इस दृष्टि से आत्मा इस शरीर रूपी एंजिन का ड्राइवर है।

आत्मानुभूति की जागरणा का रहस्य इस वस्तुस्थिति को समझने मे रहा हुआ है कि एंजिन ड्राइवर को चलावे या कि ड्राइवर एंजिन को चलावे। शरीर पर आत्मा का अनुशासन हो या वह शरीर के अनुशासन मे दबी रहे ? अनुशासन का झगडा इसलिये है कि जड और चेतन दोनों मिल कर भी सही दशा मे अपना-अपना स्वभाव नहीं छोडते हैं। चैतन्य का स्वभाव ज्ञान एवं शक्ति रूप है एव उसका अस्तित्व अजरामर है तो जड ज्ञान शून्य एव निर्जीव होता है और नश्वर भी होता है। एक तरह से दोनों के स्वभाव विपरीत है जो एक दूसरे को एक दूसरे की दिशा मे खींचते हैं। इसमे भी अनुशासन का झगडा स्वय आत्मा के साथ है। जब आत्मा की ज्ञान दशा सुषुप्त होती है—कर्मठता जागती नही है तो उसकी अपनी असली अनुभूति भी शिथिल बनी रहती है। वैसी अवस्था मे एंजिन का स्टीयरिंग उसके हाथ से छूट जाता है—उस अवस्था को ही यह कह दें कि चैतन्य जड़ के अनुशासन मे हो गया है। आत्मा का अनुशासन तब माना जाय जब स्टीयरिंग ड्राइवर के हाथ मे हो।

आत्मानुभूति को जागरणा की स्थिति यही है कि एंजिन का स्टीयरिंग ड्राइवर के हाथ आवे और बना रहे।

आत्मा की आवाज को सुने

किसी भी जीवधारी की आत्मा कभी भी जागृति या संज्ञा से सर्वथा हीन नहीं होती। सज्ञा के दब जाने की दशाओ मे अन्तर हो सकता किन्तु वह सर्वथा नष्ट नहीं होती क्योंकि आत्मा का मूल स्वभाव

ज्ञानमय है—चेतनामय है। एक दर्पण पर अधिक से अधिक मैला चढ जाय, उसमे प्रतिबिम्ब दीखना तक बन्द हो जाय, फिर भी उसकी प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता सम्पूर्णतः नष्ट नहीं होती। मैल जितना और जिस कदर साफ किया जायगा तो प्रतिबिम्बित होने की उसकी उतनी क्षमता भी निखरती जायगी और पूरी सफाई हो जाय तो एकदम स्वच्छ प्रतिबिम्ब भी उसमे नजर आ सकता हैं।

आत्मा के साथ भी कर्मों का जो मैल लगा रहता है, वही इसकी ज्ञान एव चेतना शक्ति को दबाता रहता है एव इसे अपने 'मैं" से भी विस्मृत बनाये रखता है। जितने सुविचार एव सदाचरण से इस मैल को धोने की कोशिश की जाती है, आत्मा का मूल स्वरूप भी निखरता जाता है। इसमे जितनी ज्यादा सफाई आती है, इसका बल बढता जाता है, जितनी यह सशक्त होती है, चेतना जागृत होती है—सज्ञा सुगठित बनती है। और जब ड्राइवर होशियार होता है तो स्टीयरिंग मजबूती से उसके हाथों मे बना रहता है और गाडी उसी दिशा मे चलती है जिस दिशा मे वह उसे चलाना चाहता है।

यह स्तर आत्मा की आवाज को सुनने से बनता है। आत्मा की आवाज कैसे उठती है? दबी से दबी आत्मा भी बोलती है—यह एक तथ्य है और ज्योंही उस बोलने को सुना जाय एव उसके अनुसार आचरण किया जाय तो वह आत्मा विकास का नया करवट भी बदलती है। अपने अनुभव का ही एक दृष्टान्त लें। आप एक व्यक्ति से मिलने गये, वह उस समय रूपये गिन रहा था—गिड्डियाँ खुली हुई पडी थी। आपका स्वागत करने वह उसी हालत मे उठकर जलपान की सामग्री लेने अन्दर चला गया। अब आपके भीतर जड-चेतन का युद्ध क्या होगा? जड कहता है—न पता चले उतने नोट चुपके से लेकर जेव मे धर दो। तभी आत्मा की आवाज उठती है—नहीं, ऐसा न करो—यह अनर्थ है। जिनके जीवन मे नीद गहरी होती है, वे आत्मा की आवाज को दबा देते हैं और नोट जेब मे रख लेते है। जिनकी कुछ जागृति होती है उनके भीतर यह द्वन्द्व जरा तेजी से चलता है और शायद बाद मे वे हथियार

डाल देते है, किन्तु जिनकी जागृति पुष्ट होती है, वे इस द्वन्द्व मे जड को परास्त कर देते है।

आत्मा की आवाज सभी जीवनधारियो मे उठती है, किन्तु उसका अनुशीलन एव उसका विकास उसे सुनने एव उसके अनुसार करने पर आधारित रहता है।

आत्म-विकास का सही अर्थ

जब तक ड्राइवर नशे मे पडा रहेगा और गाडी अपने ढग से चलती रहेगी तो वह गलत और हानिकारक परिणाम पैदा करेगी ही तथा इन परिणामों का भुगतान गाडी को नही, ड्राइवर को करना पडेगा। आत्मा जब तक मूर्छाग्रस्त रहती है, वह शारीरिक एव पौद्गलिक सुखों की वितृष्णा मे अपने स्वरूप को क्षतिग्रस्त बनाती रहती है एव सच्चे विकास से दूर हटती रहती है। अतः आत्म-विकास का सही अर्थ यह होगा कि आत्मा अपनी आवाज को शरीर से मनवावे और शरीर वही कर सके जिसकी आज्ञा आत्मा दे, तब सचेत ड्राइवर के हाथ खुद ड्राइवर भी सुरक्षित रहेगा तथा गाडी भी सुरक्षित रहेगी।

यह कब होगा ? जब आत्मा अपने मूलस्वरूप को प्राप्त करने की दिशा मे उन्मुख बनेगी। कर्म बन्धन से ज्यो-ज्यो वह मुक्त होती जायगी, वह उर्ध्वगामी बनेगी क्योंकि वह हल्की होती जायगी। विकास का तात्पर्य्य है ऊपर उठना और जब आत्मा हल्की बनती हुई ऊपर और ऊपर उठती जायगी तो विकास के चरम बिन्दु तक भी पहुँच सकेगी। सिद्धान्त-दर्शन एव जीवन दर्शन के बाद तीसरे सोपान पर आत्म-दर्शन का क्रम रखने का यही अभिप्राय है कि जीवन मे जब ज्ञानार्जन करके आचरण को पुष्ट बना लिया जाता है तब अन्तरानुभूति सशक्त बनती है और आत्मानुशासन प्रबल होता है।

चैतन्य का अनुशासन हो तो निश्चित रूप से प्रकाश की ओर ही गति होगी—जडत्व का अधकार उसे घेर नहीं सकेगा। ससार मे रहते

हुए तथा शरीर-धर्म निवाहते हुए जड का जो आश्रय चाहिये, वह उसे प्राप्त करेगा किन्तु उसकी जड से कोई अपेक्षा नहीं रहेगी। लक्ष्य चैतन्य-विकास एव समता प्राप्ति का ही रहेगा।

चिन्तन, मनन एव स्वानुभूति

आत्मानुभूति के सजग एव स्पष्ट होने के बाद चिन्तन एव मनन की मनोवृत्ति और अधिक गभीर एव अन्तर्मुखी बनती जायगी। जितनी अधिक गभीरता बढेगी, उतनी ही उपलब्धि भी महत्त्वपूर्ण होती जायगी। चिन्तन और मनन की शिला पर घिसती हुई स्वानुभूति तीक्ष्णतर बनती हुई अधिक समतामयी बनती जायगी। स्पष्ट स्वानुभूति की दशा मे पतन की आशका एकदम घट जाती है। प्रत्येक विचार एव प्रत्येक कार्य की कसौटी जब स्वय की ही अन्तर्चेतना बन जाय तब खरेपन की जाच हर समय होती रहती है और ऐसे जागरण की अवस्था मे भला पतन का खतरा खडा रह ही कैसे सकता है ?

चिन्तन एव मनन की मनोवृत्ति पर अधिक बल देने का यही कारण है कि मनुष्य जीवन इस समता के मार्ग पर स्वावलम्बी बन जाय। उसकी स्वानुभूति मार्ग के भटकाव का तुरन्त सकेत दे देगी तो चिन्तन एव मनन की मनोवृत्तिया पुनः सही रास्ते को खोज निकालेगी।

एक चिन्तक स्वय के जीवन को तो समुन्नत बना ही लेता है किन्तु सारे विश्व के लिये ऐसा आलोक भी उत्पन्न करता है जिसके प्रकाश मे वह पीढी ही नहीं, आनेवाली कई पीढियाँ भी विकास का सन्देश आदर्श रूप मे ग्रहण करती रहती है। चिन्तन तथा मनन की जीवन्त प्रणाली सम जीवन की दृष्टि से पुनः सबल बननी चाहिये।

सत्साधना की त्रिधारा का प्रवाह

"जिन खोजा, तिन पाइया"—किन्तु यह प्राप्ति तब होती है जब गहरे पानी पैठ होती है। समुद्र मे जो जितना गहरा गोता लगाता है, उतने

ही मूल्यवान् मोतियों की उपलब्धि कर सकता है। उसी प्रकार चिन्तन, मनन एव स्वानुभूति की गहराई मे जो जितनी पैठ करता है, उतने ही सत्साधना के मुक्ताकण उसे प्राप्त हो सकते हैं। तब एक तरह से जीवन के रेगिस्तान मे सत्साधना की एक नहीं, त्रिधारा का प्रवाह इस गति से प्रवाहित होता है कि जीवन की खेती लहलहा उठती है।

सत्साधना की यह त्रिधारा है—ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की त्रिधारा, जो सम्यक्त्व की निर्मलता मे बहती हुई आत्म-स्वरूप को भी निर्मलता की ओर ले जाती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की त्रिधारा बह जाने के बाद आत्मदर्शन स्पष्टतर बनता जाता है। तब बाहर से अन्तराभिमुखी वृत्ति ढलती है और वह अन्तर की समस्त तरलता को बाहर उडेल देने के लिये आतुर बन जाती है। यह जगत् की सेवा मे जीवन-समर्पण की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

आत्मवत् सर्व भूतेषु

आन्तरिकता की इस अभ्युत्थानी अवस्था मे ससार के समस्त जीवन-धारी अपनी ही आत्मा के तुल्य प्रतीत होने लगते है। उसकी आत्मीयता समूचे विश्व को बांध लेती है—वह इस दृष्टि से कि सहानुभूति एव सहयोग का स्नेह उसके अन्तर से उद्भुत होकर सब ओर सब पर फैल जाता है। तब समस्त प्राणियो के साथ जिस आत्मीय समता की स्थापना होती है, वह अपने सुख दुःख को तो भुला देती है परन्तु दूसरो के सुख दुःख को अपना सुख दुःख बना देती है—आत्मवत् का यही अन्तर्भाव होता है। अपनी आत्मा वैसी सबकी आत्मा—इस समता दृष्टि से भी आगे ऐसे आत्म-दर्शी की यह भावना सजग हो जाती है कि वह अपनी आत्मा को भी एक प्रकार से सबकी आत्मा मे निमज्जित कर देता है याने कि उसका जीवन पूरे तौर पर लोकोपकारी बन जाता है।

आत्म-दर्शन की मूल गत भावना ही यह होनी चाहिये कि वह अपने निजी स्वार्थों के सकुचित घेरों को तोडता चला जाय। जितना अपने ही स्वार्थों का खयाल है, उतना ही विषमता को गले लगाना है। लोकोपकारी वही बन सकता है जो अपने स्वार्थों को तिलांजलि दे देता है। उसके लिये प्राथमिक एव प्रमुख लोकहित हो जाता है। लोकहित की सतत चेष्टा नहीं हो तो 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का अनुभाव भी कार्य रूप नहीं ले सकेगा।

आत्म-दर्शन की दशा में

समता व्यक्ति के जीवन मे आवे तो समता समाज के जीवन मे जागे—इस उद्देश्य की श्रेष्ठ पूर्ति आत्म-दर्शन की दिशा मे निरन्तर आगे बढते रहने से ही सभव बन सकेगी। आत्मानुभूति एव अन्तर्चेतना की जागृत दशा मे जो प्रगति को जायगी, वह व्यक्ति एव समाज दोनों के जीवन को प्रभावित करेगी। आत्म-दर्शी व्यक्ति एक प्रकार से परिवर्तनशील समाज के नेता होंगे—सामान्य जन जिनका विश्वासपूर्वक अनुसरण कर सकेंगे।

आत्म-दर्शन को दिशा मे पूर्णता प्राप्त करने की दृष्टि से समता-साधक को नियमित रूप से कुछ भावात्मक अभ्यास करने होंगे जो इस प्रकार हो सकते हैं :—

:१:

प्रात सूर्योदय से पूर्व एक घड़ी आत्म-चिन्तन एव साय आत्मालोचना

महावीर ने यह अमर वाक्य उच्चरित किया था कि—"समय, गोयम, मा पमायए" अर्थात हे गौतम, समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो। समय को मिनिट व सैकड से भी छोटा घटक माना गया

है। समय का कोई मूल्य नही और बीता हुआ समय कभी वापिस लौटकर आता नही, अतः आत्मदर्शी के लिये समय का लोकोपकार मे सदुपयोग एक आवश्यक कर्त्तव्य माना जाना चाहिये।

इस हेतु अभ्यास रूप पहले वह प्रातः सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घडी यह आत्म-चिन्तन करे कि उस दिन उसे अपनी चर्या क्या रखनी है जो उसके समता-लक्ष्य के अनुकूल हो। यही समय गहन विषयो पर चिन्तन एव मनन का भी होना चाहिये। यह आत्म-चिन्तन उसकी स्वानुभूति को तीव्रतर बनाता रहेगा।

इसी प्रकार साय आत्मालोचना का समय निकालना भी इस कारण आवश्यक है कि दिन भर मे उसने क्या अकरणीय किया और क्या करणीय नही किया—इसका लेखा-जोखा भावी सावधानी की दृष्टि से जरूर लगाया जाय। यह नित्य का क्रम आत्मदर्शी की विकास गति मे शिथिलता कभी भी नहीं आने देगा। अभ्यास नियमित नहीं रहे तो सभव है, प्रमादवश ही शैथिल्य आ जाय, क्योकि शरीर मे रहा हुआ सबसे बडा शत्रु प्रमाद ही होता है।

प्रातः और साय के इस कार्यक्रम को आत्मदर्शी के लिये अनिवार्य माना जाना चाहिये।

२

सत्साधना का नियमित समय निर्धारण एव उस समय के कर्त्तव्य

समता-साधना की अन्तरग धारा तो हर समय प्रवाहित होती रहेगी किन्तु उसके प्रवाह को पुष्ट करते रहने की दृष्टि से सत्साधना के लिये नियमित समय का निर्धारण भी आवश्यक है ताकि समता-साधक का बाह्य जीवन भी समता-प्रसार मे नियोजित हो तथा उसके प्रभाव से सभी क्षेत्रो मे समता के लिये चाह गहरी बने।

सत्साधना के क्षेत्र मे किन्हीं विशिष्ट प्रवृत्तियों को हाथ मे लिया जा सकता है जो यथाशक्ति यथाविकास पूरी की जा सकती हो। ऐसी

प्रवृत्तियो के लिये पूरा या अधिक से अधिक समय दिया जा सके—यह तो श्रेष्ठ है ही, किन्तु पहले अभ्यास की दृष्टि से नियमित समय निकाला जाय तो उससे सेवा समर्पण का क्षेत्र बढता रहेगा।

सत्साधना के ऐसे बाह्य क्रिया कलापों मे इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि उस समय यथाशक्य अधिक से अधिक पाप प्रवृत्तियों का निरोध किया जाय तथा समतामय प्रवृत्तियों का आचरण किया जाय। आत्म-चिन्तन के आधार पर समाज मे राजनीतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार की समता-स्थापना हेतु नये शान्तिपूर्ण मार्ग खोजे जाय और ऐसी पद्धतियों का विकास किया जाय जो समाज के विस्तृत क्षेत्र मे भावात्मक तथा कार्यात्मक एकरूपता पैदा कर सकें, क्योंकि स्वतत्र चिन्तन पर आधारित ऐसी एकरूपता ही समता के वातावरण को स्थायी एव सुदृढ बना सकेगी।

:३

सत्साहित्य का निरन्तर स्वाध्याय एव मौलिकता की सृष्टि—

हमारा अपना चिन्तन तबतक पूर्ण नहीं बन सकेगा, जबतक हम दूसरे प्रबुद्धजन के अतीत के या वर्तमान के चिन्तन को समझ कर अपने स्वय के चिन्तन की कसौटी पर न कसें और उसकी उपयोगिता पर न सोचें। "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"—यह सत्य उक्ति है। एक-एक के से नये नये विचार उभरते है तथा उनसे नये-नये तत्त्वों का ज्ञान होता है। न जाने किस अज्ञात प्रतिभा के मस्तिष्क से युग-बोध के विचार प्रस्फुटित हो जाय ? प्रत्येक आत्मा ज्ञानधारी होती है तव यह कौन कह सकता है कि चिन्तन की धारा मे कौनसी आत्मा कितनी गहरी उतर विचारों के नये-नये मोती ढूढ लावे ? इसके सिवाय अतीत के महापुरुषो द्वारा ढूँढे हुए विचार-मोती भी शास्त्रों या सूत्रों के रूप मे हमारे सामने विद्यमान है।

अतः एक आत्मदर्शी को निरन्तर स्वाध्याय की आदत बनानी चाहिये और वह स्वाध्याय इस सत्साहित्य का हो। स्वानुभूति की सजग दशा मे यह स्वाध्याय नये-नये चिन्तन व मनन तथा उसके फलस्वरूप नई मौलिकता को जन्म देने वाला होगा। सब विचारो को जानकर जब उन्हे अपने भीतर पकाया और पचाया जाता है, तब उसके यथार्थ निष्कर्ष रूप अपने ही मौलिक विचार पैदा होते हैं। स्वानुभूति एव स्वाध्याय के साथ चिन्तन-मनन की नियमित प्रवृत्ति मे मौलिकता की सृष्टि होती है, जिसकी सहायता से आत्मदर्शी सारे ससार को नया युगपरिवर्तनकारी विचार दे सकने का सामर्थ्य सचित कर सकता है।

.४

"मै किसी को दु ख न दूँ",
"मै सबको सुख दूँ!"—

आत्म-दर्शन का सार व्यक्ति के मन मे इस रूप मे जागना चाहिये कि उसका यह मानस बन जाय—"मैं किसी को दुःख न दू—मैं सबको सुख दू।" उसका जब यही मानस जब आचरण मे उतरता जायगा तो वह अपने क्रिया-कलापों मे अहिंसा के दोनों पक्षों को सक्रिय बना लेगा। किसी को दुःख न देने मे वह अपने स्वार्थो को समेट लेगा और उन्हे किसी भी दशा मे उस दायरे से बाहर नहीं निकलने देगा, जहाँ पहुच कर वे किसी भी अन्य जीवनधारी के प्राणों को किसी भी प्रकार से कष्टित बनावें।

सबको सुख देने की भावना इस दिशा को क्रियात्मक भावना होगी कि वह अपने लोकोपकार को विस्तृत बनावे—उसे समता का सुदृढ धरातल प्रदान करते हुए। इस वृत्ति मे वह अपनी आत्मा को सेवा-शक्ति के अत्युच्च विकास के साथ सारे विश्व की परिधि तक फैला देगा। स्वार्थो को समेटो और आत्मीयता को फैलाओ—यह एक आत्मदर्शी का नारा ही नहीं, आचरण का सहारा होना चाहिये।

अतः एक आत्मदर्शी को निरन्तर स्वाध्याय की आदत बनानी चाहिये और वह स्वाध्याय इस सत्साहित्य का हो। स्वानुभूति की सजग दशा मे यह स्वाध्याय नये-नये चिन्तन व मनन तथा उसके फलस्वरूप नई मौलिकता को जन्म देने वाला होगा। सब विचारो को जानकर जब उन्हे अपने भीतर पकाया और पचाया जाता है, तब उसके यथार्थ निष्कर्ष रूप अपने ही मौलिक विचार पैदा होते हैं। स्वानुभूति एव स्वाध्याय के साथ चिन्तन-मनन की नियमित प्रवृत्ति मे मौलिकता की सृष्टि होती है, जिसकी सहायता से आत्मदर्शी सारे ससार को नया युगपरिवर्तनकारी विचार दे सकने का सामर्थ्य सचित कर सकता है।

.४

"मै किसी को दु ख न दूँ",
"मै सबको सुख दूँ!"—

आत्म-दर्शन का सार व्यक्ति के मन मे इस रूप मे जागना चाहिये कि उसका यह मानस बन जाय—"मैं किसी को दुःख न दू—मैं सबको सुख दू।" उसका जब यही मानस जब आचरण मे उतरता जायगा तो वह अपने क्रिया-कलापों मे अहिंसा के दोनों पक्षो को सक्रिय बना लेगा। किसी को दुःख न देने मे वह अपने स्वार्थो को समेट लेगा और उन्हे किसी भी दशा मे उस दायरे से बाहर नही निकलने देगा, जहाँ पहुच कर वे किसी भी अन्य जीवनधारो के प्राणों को किसी भो प्रकार से कष्टित बनावें।

सबको सुख देने की भावना इस दिशा को क्रियात्मक भावना होगी कि वह अपने लोकोपकार को विस्तृत बनावे—उसे समता का सुदृढ धरातल प्रदान करते हुए। इस वृत्ति मे वह अपनी आत्मा को सेवा-शक्ति के अत्युच्च विकास के साथ सारे विश्व की परिधि तक फैला देगा। स्वार्थो को समेटो और आत्मीयता को फैलाओ—यह एक आत्मदर्शी का नारा ही नहीं, आचरण का सहारा होना चाहिये।

:७:

परमात्म-दर्शन के समतापूर्ण लक्ष्य तक

"अप्पा सो परमप्पा"—आत्मा ही जब अपने पूर्ण समतामय लक्ष्य तक पहुच जाती है, तब वही परमात्म-स्वरूप धारण कर लेती है। नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा का सिद्धान्त कर्मण्यता का अनुप्रेरक सिद्धान्त है। कोई भी विकास और विकास का चरम विन्दु तक इस आत्मा की पहुच से वाहर नहीं है। वास्तव मे असभव शब्द मानव जीवन के शब्दकोष मे कहीं भी नहीं है।

मानव जीवन मे इस कारण सत्साहस की प्रवृत्ति अपार महत्त्व रखती है। कायर के लिये सब कुछ असभव है, किन्तु साहस के लिये कुछ भी असभव नहीं। आत्मा से परमात्मा तक का लक्ष्य इसी सत्साहस की समतापूर्ण उपलब्धि के रूप मे प्रकट होता है। मनुष्य जितना गिरावट के खड्डे मे गिरा रहता है, उतने ही जीवन के उसके सभी पहलू विपम वने रहते हैं। विपमता से अधिक से अधिक विकारों का प्रवेश होता रहता है और जितने अधिक विकार, उतनी अधिक दुर्वलता और जहाँ दुर्वलता है, वहाँ कायरता ही तो रहेगी—साहस का सद्भाव ही वहाँ कैसे हो सकता है?

:७:

परमात्म-दर्शन के समतापूर्ण लक्ष्य तक

"अप्पा सो परमप्पा"—आत्मा ही जब अपने पूर्ण समतामय लक्ष्य तक पहुच जाती है, तब वही परमात्म-स्वरूप धारण कर लेती है। नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा का सिद्धान्त कर्मण्यता का अनुप्रेरक सिद्धान्त है। कोई भी विकास और विकास का चरम बिन्दु तक इस आत्मा की पहुच से बाहर नहीं है। वास्तव मे असभव शब्द मानव जीवन के शब्दकोष मे कहीं भी नहीं है।

मानव जीवन मे इस कारण सत्साहस की प्रवृत्ति अपार महत्त्व रखती है। कायर के लिये सब कुछ असभव है, किन्तु साहस के लिये कुछ भी असभव नहीं। आत्मा से परमात्मा तक का लक्ष्य इसी सत्साहस की समतापूर्ण उपलब्धि के रूप मे प्रकट होता है। मनुष्य जितना गिरावट के खड्डे मे गिरा रहता है, उतने ही जीवन के उसके सभी पहलू विषम बने रहते हैं। विषमता से अधिक से अधिक विकारों का प्रवेश होता रहता है और जितने अधिक विकार, उतनी अधिक दुर्बलता और जहाँ दुर्बलता है, वहाँ कायरता ही तो रहेगी—साहस का सद्भाव ही वहाँ कैसे हो सकता है ?

यह कायरता कैसे मिटे ?

आपके बाहर के अनुभवों ने ही यह कहावत बना रखी है—चोर के पैर कच्चे होते है। चोर कौन ? जिसका जो प्राप्य नहीं है, उसे जब वह चुपके ले लेना चाहता है तब उसे चोरी करना कहते है और चोरी करने वाला चोर होता है। इस वृत्ति को समझ कर अपने जीवन के हर काम पर एक निगाह डालिये कि आप का वह काम कही इस लाइन पर तो नही चल रहा है ?

जहॉ चौर्य्य वृत्ति है, वहॉ अवश्य कायरता मिलेगी। विषमता बढती जाती है और कायरता बढती जाती है। कायरता बढने से किसी भी रूप मे पराक्रम का पैदा होना कठिन बन जाता है। साहस और पराक्रम का जोडा साथ ही तो चलता है—विचार मजबूत तो काम मजबूत। साहस और पराक्रम पैदा होगा विषमता काटने से, समता लाने से। बाहर और भीतर के जीवन मे जहॉ-जहॉ विषमता है, वहॉ-वहाँ उस पर प्रहार करते रहना होगा। ज्यो-ज्यो ये प्रहार किये जायेगे, साहस और पराक्रम का बल भी बढता जायगा, क्योकि कायरता मिटती जायगी।

विषमता पर किये जाने वाले ये प्रहार सबसे पहले इसी चौर्य्य वृत्ति पर आघात करेंगे। अन्तर की आवाज तुरन्त बता देती है कि कहॉ और कितना उसका प्राप्य है और क्या उसका प्राप्य नही है ? इस आवाज के निर्देशन मे चलते रहे तो कही भी भूल हो जाय—इसकी सभावना नही रहती है। जो आत्म-सुख की आवाज है, वह समता का पाथेय है और जितना शरीर-सुख की लालसा मे दौडता है, वह विषमता के अधकार मे भटकना है। समता की ओर गति करने की लगन जब लग जायगी तो तबसे जीवन मे फैली हुई कायरता भी मिटने लगेगी।

पैर कहाँ-कहाँ कच्चे हैं और क्यों ?

प्रत्येक विकासकामी मानव का पहला कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि वह अपने प्रत्येक चरण पर सदसद् का एव उसके फलाफल का विवेक सतत रूप से जागृत रखे। वह जो सोचता, बोलता और करता है— उसका उसके स्वय के जीवन पर, उसके साथियों के जीवन पर एव समुच्चय रूप से समाज के जीवन पर क्या प्रभाव पडेगा—यह देखते एव महसूस करते रहने की सतर्कता होनी चाहिये।

वर्तमान जीवन क्रम को देखें कि पैर कहाँ-कहाँ कच्चे है और क्यों है ? इसके लिये पहले दो पक्ष ले—व्यक्ति का जीवन और समाज का जीवन और फिर इनके भी दो-दो पक्ष लें—वाह्य जीवन एव आन्तरिक जीवन। ये चारों पक्ष अन्योन्याश्रित रहते है। व्यक्ति के आन्तरिक जीवन से व्यक्ति का बाह्य जीवन प्रभावित होता है तो उससे समाज का वाह्य जीवन प्रभावित होता है। फिर जैसा समाज का वाह्य जीवन सामूहिक रूप से ढलता है, उसी के आधार पर समाज का आन्तरिक जीवन याने किसी भी समाज की सभ्यता एव मस्कृति का निर्माण होता है। यही सभ्यता एव सस्कृति फिर दीर्घकाल तक तदनुसार व्यक्ति के वाह्य एव अन्तर को प्रभावित करती रहती है। व्यक्ति समूह का अग होता है तो समाज होता है व्यक्ति-व्यक्ति का समुच्चय रूप।

इसलिये जहाँ-जहाँ जिस-जिस पक्ष मे पैर कच्चे रहते है—उसका प्रभाव कम ज्यादा सभी पक्षों पर पडता है और यह काल-क्रम चलता रहता है। सामाजिक स्वैच्छिक नियत्रण प्रणालियाँ यदि सुदृढ नही होगी तो व्यक्ति की कामनाएँ साधारण रूप से उद्दाम वनेगी और वह आत्म विस्मृत वन कर पशुता की ओर मुडेगा। इसी के साथ यदि व्यक्ति अपने और अपने साथियों के हितों के साथ सामजस्य विठाकर चलने का अभ्यस्त नहीं हुआ तो उससे जिस सभ्यता एव सस्कृति की रचना होगी, वह न सर्वजन हितकारी होगी और न किसी ... आदर्श। अत पग-पग पर आने वाली दुर्वलताओं के प्र... की दृष्टि से ही समूचा जीवन क्रम चलना ...

तीसरे के बाद यह चौथा सोपान

सिद्धान्त-दर्शन, जीवन-दर्शन एव आत्म-दर्शन के तीन सोपानो के बाद ज्ञान एव दर्शन के क्षेत्र मे यह जो चौथा सोपान परमात्म-दर्शन का है, यहां तक पहुचते हुए ऐसी सतर्कता का वैचारिक निर्माण हो ही जाना चाहिये। जब विषमता के विकराल रूपों की जानकारी के बाद समता के सिद्धान्त, जीवन प्रयोग एव आत्मानुभूति जागरण का सम्यक् ज्ञान हो जाय तब सभी क्षेत्रों की दुर्बलताओं एव उनके कारणो का ज्ञान एव उनसे बचते रहने की सतर्कता उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है, क्योकि परमात्म-दर्शन की प्रेरणा ही आत्मा एव परमात्मा को समकक्ष पहुचाने की होती है।

आत्मा एव परमात्मा के अन्तर को यदि एक ही शब्द मे बताया जाय तो वह है विषमता। यह स्वरूप की विषमता होती है। अन्तर मिटता है तब स्वरूप-समता आती है। समूचा मैल कट जाता है तो सम्पूर्ण निर्मलता की आभा प्रस्फुटित होती है। यह आभा ही आत्मा की परम स्थिति है और उसे परमात्मा बनाती है। इस कारण मूल समस्या यह है कि इस अन्तर को समझा जाय और उसे मिटाने की दिशा मे आगे गति की जाय।

समता इन्सान और भगवान् की

एक शेर है—"खुदी को कर इतना बुलन्द कि खुदा तुझसे खुद आके पूछे।" इसका भाव भी यही है कि खुद से खुदा बनता है, मगर सवाल है खुद को उस हद तक बुलन्द बनाने का। इन्सान और भगवान की समता का मूल अवरोध है कर्म और मूल शस्त्र है कर्म। अवरोध वह कर्म जो किया जा चुका है और जिसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलेगा और शस्त्र है वह कर्म जिसकी साधना करके कर्म-बध को ।८ देना है। कर्म का सीधा अर्थ है कार्य। कार्य जो किया जा

चुका है, वह फल अवश्य देता है—जैसा काम, वैसा फल। इसलिये पहली बात तो यह है कि अच्छा और भला काम किया जाय, जिससे शुभ फल मिले। अच्छा और भला काम पहिचाना जाता है खुद की महसूसगिरी पर जो सुघर कर पैनी बन चुकी हो।

इन्सान और भगवान् की समता मे अवरोध बने हुए होते है पूर्वार्जित कर्म। आत्मा को अनादि अनन्त कहा है तो पहले के कुविचारो एव कुकृत्यो का जितना कर्म बन्ध इसके साथ लगा हुआ है, उसे काटने का और नया कर्म बन्धन होने देने का दुहरा प्रयास साथ-साथ करना होगा। एक गन्दे पानी का पोखर है, उसे साफ करना है तो दुहरा काम साथ-साथ करना पडता है। एक तो उसमे बराबर गन्दा पानी लाने वाले नालों को रोकना और दूसरा, उसके गन्दे पानी को बाहर फेंकना। तब कही जाकर उस पोखर की सफाई हो सकेगी। आत्मा के मैल रहित होने का अर्थ हो परमात्म-स्वरूप तक पहुचना है। जब दर्पण अपनी उच्चतम सीमा तक स्वच्छ कर लिया जाता है तो अपनी निर्मलता से न स्वय वही सुदर्शनीय होता है बल्कि जो भी उसके समक्ष आता है उसके प्रतिबिम्ब को निखार कर वह उसे भी सुदर्शनीय बना लेता है। इन्सान और भगवान् की समता की यही आदर्श स्थिति होती है।

यह कर्मण्यता का मार्ग है

यह आदर्श समता कर्मण्यता के कठोर मार्ग पर चल कर ही प्राप्त की जा सकती है। कर्मण्यता बन्धनों को काटने मे—मैल को साफ करने मे और आने वाले बन्धनो तथा मैल से दूर रहने मे। यह सतर्क वृत्ति एव पराक्रम दशा समता की आराधना से बनती और पनपती है। विचारों मे समता, वाणी मे समता तथा आचरण मे समता—तभी कर्मण्यता के मार्ग पर साधक के चरण तेजी से और मजबूती से आगे बढते हैं।

पूर्वार्जित कर्मो को परमात्म-स्वरूप के बीच मे आने वाले आवरण के रूप मे देखा गया है। जैसे सूर्य के बीच मे बादल आकर उसके तेज को

ढक लेते है, उसी तरह ये आवरण आत्मा के अनन्त तेज को ढक लेते हैं। ऐसे कर्म बन्धनों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

१ *ज्ञानावरणीय कर्म*—जब स्वय ज्ञानार्जन न करके दूसरो के ज्ञानार्जन मे बाधाएँ पैदा की जाती है अथवा पाखड या दभ से अज्ञान या कुज्ञान की प्रतिष्ठा की जाती है तो ऐसा करने वाले के ज्ञान पर आवरण लग जाते हैं। ज्ञान और सम्यक् ज्ञान अथवा समतामय ज्ञान से वह जीवन दूर हटता जाता है, वैचारिक दृष्टि से जबतक वह पुनः सजग नही बनता और ज्ञानाराधन के लिये कठोर जीवट पैदा नहीं करता, तब तक वह आवरण को काट नही सकता है। किन्तु वह जब अपना निश्चित मानस बनाकर अज्ञान से लड पडता है तो ज्ञान का सूरज भी उगा कर रहता है।

२ *दर्शनावरण कर्म*—"दृष्टि दर्शन" के अनुसार सामान्य अवबोध—दर्शन शक्ति को अवरुद्ध करने वाला कर्म। इस आवरण के कारण आत्मा वस्तु के सामान्य अवबोध से वञ्चित रहती है।

३ *वेदनीय कर्म* – दूसरो को जैसी वेदना दोगे, वैसी ही वेदना स्वय को भी मिलेगी। जैसा व्यवहार मन, वचन और काया से दूसरो के साथ किया जायगा, वैसा ही प्रतिफल यह कर्म करने वाले को भी देता है। सुखद व्यवहार से सुखद तो दुःखद व्यवहार से दुखद वेदना मिलती है। सम्पत्ति और विपत्ति मे जब अनुभूति की एकरूपता आती है तो यह कर्म कटने लगता है।

४ *मोहनीय कर्म*—जीवन मे मोहजनित दशाओ एव अन्ध-मिथ्या श्रद्धान से इस आवरण का बन्ध होता है। मोह वृत्ति सबसे अधिक चिकनी होती है जो चैतन्य को न तो स्वरूप बोध की ओर उन्मुख होने देती है और न स्वरूपाचरण की ओर। मोह की प्रबलता इतनी मानी गई है कि अकेला मोह छूट जाय तो सारे कर्मों का वृक्ष हिल उठेगा और गिर जायगा क्योंकि मोह जीवन की सम्पूर्ण विषमता की जड-रूप होता है। जडें हिला दी जाय तो वृक्ष को गिराने मे देर नही लगती। मुख्यतया मोह के कारण ही राग और द्वेष की वृत्तियाँ बनती हैं। जो अपना है

उस पर राग और जो अपना व अपनों का विरोधी है उस पर द्वेष। इन्ही वृत्तियों मे जीवन अधिकाशतः लुढकता रहता है और जीवन के हर पहलू मे विषमता भरता रहता है। अतः इस कर्मराज का काटने का पहला और कडा यत्न होना चाहिये, क्योकि यह सम्पूर्ण सदाचरण का अवरोधक होता है।

५ *आयु कर्म*—जीवन दो, रक्षा करो तो जीवन मे आयु की लम्बाई मिलती है। कर्म एक प्रकार से दान का प्रतिदान ही तो होता है। दूसरो को मारो तो आप कहाँ मार से बच सकेंगे? इस तरह यह कर्म अमुक समय तक आत्मा को अमुक योनि मे रोक कर रखता है।

६ *नाम कर्म*—इससे गति जाति आदि विभिन्न पर्यायों की प्राप्ति होती है। अच्छे काम से अच्छा नाम कर्म तो उससे अच्छी गति की प्राप्ति। अच्छी गति मिले तो विकास के अच्छे अवसर मिलते हैं। बुरी गति मे विकास की सज्ञा ही पैदा नहीं होती।

७ *गोत्र कर्म*—गति और जाति मे भी ऊँचा या नीचा स्थान दिलाने वाला यह कर्म होता है।

८ *अन्तराय कर्म*—अन्तराय का अर्थ होता है बाधा। बाधा डालने से बाधा पैदा होती है तो दूसरो की बाधाएँ हटाने से अपनी भी बाधाएँ हटती है।। उद्योग करने पर भी जो कार्य-सिद्ध नहीं होता है, उसका कारण यह कर्म होता है।

इन आठ श्रेणियों मे सभी प्रकार के पूर्वाजित कर्मो का समावेश हो जाता है तो आनेवाले नये कर्मो की श्रेणियाँ भी ये ही होती हैं। ये कर्म-बन्धन हर कदम पर विषमता बढाते हैं तो इन्हे काटना व रोकना समता की दिशा मे जीवन को अग्रसर बनाता है। जिस मार्ग पर चल कर इन कर्मरूपी शत्रुओं से लडा जाता है, वही कर्मण्यता का मार्ग कहलाता है और जो इन शत्रुओं को सम्पूर्णतः पराम्त कर देता है, वही वीतराग और अरिहत कहलाता है। आत्मा इसी मार्ग पर चल कर परमात्मा बनती है।

गुणों के स्थानों को पहिचानें और आगे बढ़ें

प्रत्येक के जीवन मे अच्छाई और बुराई—गुण और अवगुण के दोनो पक्ष साथ साथ चलते है। जीवन को अवगुणो से मोड कर गुण-प्राप्ति की ओर ले जाया जाय—इस दृष्टि से कुछ सोपान बनाये गये है ताकि जीवन उस समय कहाँ चल रहा है—यह जानकर उसे ऊपर के सोपानों पर चढाते रहने का तब तक सतत प्रयास किया जा सके, जबतक वह अन्तिम सोपान के लक्ष्य तक न पहुच जाय। गुणों के ऐसे चौदह स्थानो को गुणस्थान कहा गया है।

जब चैतन्य अज्ञान एव अन्धविश्वासो के घने बादलों से घिरा रहता है और अपने स्वरूप बोध से अत्यन्त दूर रहता है तब उसकी अत्यन्न निकृष्ट अविकसित अवस्था को प्रथम गुणस्थान कहते है। इस अवस्था मे आत्मा पर मोह का प्रबल साम्राज्य रहता है फलस्वरूप वह वस्तु-तत्त्व को अतत्त्व के रूप मे समझता है। इस विपरीत किंवा मिथ्या दर्शन के कारण ही इसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

जब मोह का आवरण शिथिल पडता है और चैतन्य स्वरूप बोध की ओर उन्मुख होता है तब आत्म-विकास के प्रथम सोपान पर चरण बढते है जिसे दार्शनिक परिभाषा अविरति सम्यग्दृष्टि किंवा चतुर्थ गुण-स्थान कहते हैं। यहीं सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु जबतक-स्वरूप बोध की धारा स्थायित्व नहीं ले लेती है तब तक कभी-कभी ऐसी अवस्था भी बनती है कि न स्वरूप-बोध पर दृढ प्रतीति हो और न अप्रतीति—तात्पर्य यह है कि जब ऐसी डावाडोल स्थिति रहती है कि न वस्तु-तत्त्व पर पूर्ण विश्वास होता है और न अविश्वास। इस अवस्था को मिश्र दृष्टि किंवा तृतीय गुणस्थान कहा गया है।

जब स्वरूप-बोध को प्राप्त करके भी मोह के प्रबल थपेडों से आत्मा पुनः अधोगामिनी बनती है तब पतनोन्मुख अवस्था मे जबतक स्वरूप-बोध का यत्किञ्चित् आस्वाद रहता है, तत्कालीन अल्पसामयिक अवस्था को सास्वादान किंवा द्वितीय गुणस्थान कहते है।

पूर्व प्रतिपादित स्वरूप-बोध जब कुछ स्थायित्व ले लेता है और तत्त्व रुचि सुदृढ बन जाती है किन्तु वह दृष्टि जबतक कृति मे नही उतरती तबतक चौथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान रहता है। पर ज्योंही व्रताचरण रूप त्याग प्रारम्भ हो जाता है कि देशविरति रूप पाचवे गुण-स्थान की भूमिका प्राप्त हो जाती है।

आचरण के चरण जब दृढता से आगे बढते है तो साधुत्व की स्थिति आने लगती है। जबतक इस स्थिति मे प्रमाद-आलस्य नहीं छूटता तबतक छठा गुणस्थान प्रमत्त साधु का रहता है तो प्रमाद छूट जाने पर सातवा अप्रमत्त साधु गुणास्थन आ जाता है। फिर तत्पर रहकर कर्म बन्धनो को जिस-जिस परिमाण मे दबाते या नष्ट करते रहते हैं, गुणस्थानों के सोपान आगे से आगे निवृत्ति बादर, अनिवृत्ति बादर, सूक्ष्म सम्पकाय, उपशान्तमोह और क्षीणमोह तक इस जीवन को बढाते जाते हैं। मोह को क्षीण कर लिया तो सर्वोच्च ज्ञान - केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा तेरहवें गुणस्थान मे प्रवेश मिल जाता है जो सयोगी केवली का होता है। फिर मामूली क्रियाएँ भी जब समाप्त हो जाती है तो अन्तिम गुणस्थान अयोगी केवली का आ जाता है।

ये गुणों के स्थान हैं, किन्तु इनमे बढ जाना या कषायविजय की अपूर्णावस्था तक पुनः गिर जाना मन की कषाय एव योग वृत्तियों पर निर्भर रहता है। जीवन के जो मूल गुण सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के रूप मे होते है, इनके साथ विषय, कषाय आदि वृत्तियों का जिस तरह ऊँचा नीचा तारतम्य रहता है उसी परिमाण मे सोपानों पर चढना उतरना भी होता है। ज्यो-ज्यों मुख्यतः मोह की प्रकृतियाँ छूटती जाती है, त्यों-त्यों जीवन मे गुणो की वृद्धि होती जाती है तथा इस गुण-वृद्धि के अनुसार ही गुणस्थानों का यह क्रम बनाया गया है।

जितनी विषमता कटे, उतने गुण बढ़ें

मन पर निग्रह करना सबसे पहली और सबसे बडी बात होती है मन जब नियन्त्रित नहीं होता है तो वह वृत्तियों की विषमता मे

है। एक ओर वह काम-भोग की कामनाओं मे फिसलता है तो दूसरी ओर क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो मे उलझता है। जितना वह विषय और कषाय मे फसता है उतना ही अधिक मोहाविष्ट होता जाता है। जितना मोह ज्यादा, उतनी ही मन की विषमता ज्यादा। मन विषम तो वचन विषम औ र तब कार्य भी विषम ही बनता है।

विषमता की कुप्रवृत्ति के साथ जब एक व्यक्ति चलता है तो उसका कुप्रभाव उसके आसपास के वातावरण पर पडे बिना नही रह सकता। यही वातावरण व्यापक होता है और परिवार, समाज एव राष्ट्र से लेकर पूरे विश्व तक फैलता है। विषमता के थपेडों से गुणो की भूमिका समाप्त होती जाती है एव चारो ओर दुर्गुणों को बढ ावा मिलने लगता है। जब जीवन मे दुर्गुणो का फैलाव हो जाता है तो वह मिथ्यात्व के वातचक्र मे टकराता रहता है और पतन की राह बढता जाता है।

इस कारण जहॉ-जहॉ से जितनी विषमता को काटी जायगी, वहॉ-वहॉ उतने अशों मे मानवीय सद्गुणों का विकास किया जा सकेगा। व्यक्ति अपने कर्म-बन्धनो से सघर्ष करेगा और अपनी विषमता को काटेगा, तब वह समाज को समता की दृष्टि दे सकेगा, क्योकि वह स्वय गुणो के स्थानो मे ऊपर उठता हुआ समाज के लिये उन्नायक आदर्शो को प्रतिष्ठा करेगा।

परमात्म-स्वरूप की दार्शनिक भूमिका

इस दार्शनिक भूमिका को भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि गुणों के स्थानों मे विकासशील आत्मा किस प्रकार अपने पूर्वार्जित कर्मों से सघर्ष करके उनका क्षय करती है तो नये कर्म-प्रवाह को भी कैसी भावना के बल पर अवरुद्ध बना देती है? उसके बाद ही वैसी आत्मा परमात्मा के स्वरूप को वरण करती है।

यह दृश्यमान ससार जीव तथा अजीव तत्त्वों पर आधारित है। जीव भी यहा स्वतन्त्र नहीं है—अजीव तत्त्व के साथ अपने कर्म-बन्धनों के कारण बधा हुआ है। जीव और अजीव के सम्मिश्रण से समस्त जीवधारी दिखाई देते है तथा अजीव के बन्धन से ही जीवधारी अजीव तत्त्वों की ओर मोहाविष्ट भी होता है। यह मोह चाहे अपने या दूसरों के शरीर के प्रति हो अथवा धन, सम्पत्ति या अन्य पदार्थों के प्रति। यह मोहाविष्ट दशा जीवन मे राग और द्वेष की प्रवृत्तियाँ जगाती है तो उन प्रकृतियों के वशीभूत होकर जीवधारी विविध कर्म करते हुए उनके फलाफल से भी अपने को प्रतिबद्ध बनाते हैं।

यदि जीवात्मा शुभ कार्य करता है तो उसके पुण्य कर्मो का बध होता है और उसका फल भी उसे शुभ मिलता है। अशुभ कार्य से पाप कर्मों का बन्ध होता है और उसका अशुभ फल भी भोगना पड़ता है। इस प्रकार पुण्य और पाप के तत्त्व जीवन मे सुदशा एव कुदशा की रचना करते हैं। यह जो कर्म-प्रवाह आकर आत्मा से सलग्न होता है, उसे आश्रव तत्त्व कहा गया है। आश्रव याने आते हुए कर्मों को रोका जाय—यह पहला काम। इस रोकने के पराक्रम को सवर तत्त्व कहा गया है। सवर तत्त्व की आराधना जब जीवन मे की जाती है तो जीवन मे उभार आता है क्योंकि प्रति क्षण जब समतामय दृष्टि एव कृति से चला जाता है तभी स वर क्रियाशील होता है। फिर पूर्वाजित कर्मो को नष्ट करने की दिशा मे जो प्रयास किया जाता है उसे निर्जरा कहते है। सवर से बाहर से आते कर्मो को रोका जाय और निर्जरा से भीतर के कर्मों का क्षय किया जाय तो कर्म-मुक्ति की ओर स्वस्थ गति बनती है। सम्पूर्ण कर्म मुक्ति को ही मोक्ष कहते हैं। कर्म बधते है वह बध तत्त्व और छूटते है वह मोक्ष तत्त्व।

इस प्रकार पूरे जीवन के निचोड रूप नव-तत्त्व—जीव अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव सवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष दिखाई देते हैं। पुण्य से अच्छे सयोग मिलते है और उससे विकास के अवसर भी, किन्तु

फिर भी पुण्य उस नाव की तरह होता है जिसमे बैठकर नदी को पार कर लें किन्तु दूसरे तट पर कदम रखने के लिये तो नाव को भी छोडनी पडती है। इस कारण पुण्य की सहायता से ससार मे जो सुख-वैभव की उपलब्धियाँ होती है, उन्हे छोडने को भी चरम त्याग कहा है। त्याग को जीवन का उत्थान मार्ग भी इसीलिये बताया गया है कि जीवन विषमता के इस तट से साधना की नदी पार करके समता के दूसरे तट पर पहुच जाय। भोग मिलते है किन्तु मिले हुए भोगो को भी भावनापूर्वक छोड देना —इसी मे त्याग की विशेषता रही हुई है। जहाँ त्याग है, वहाँ विषमता पास मे भी नही फटक सकती है। त्याग जितना बढ़ता जायगा, समता का क्षेत्र भी बढता जायगा और यहाँ तक कि परमात्म स्वरूप के साथ समता स्थापित हो जायगी।

त्याग : जीवन-विकास का मूल

जीवन पूर्णतः पृथक् पृथक् विभागों मे विभाजित नही किया जा सकता है। ससार का जीवन अलग और साधना का जीवन अलग— ऐसा नहीं होता। जीवन मे जिन सस्कारों का सामान्यतया निर्माण होता है, उन्ही की पृष्ठभूमि पर ससार का जीवन भी चलता है और वैराग्य का जीवन भी बनता है। यदि सस्कार त्याग की आधारशिला पर निर्मित हुए तो वे ससार को भी स्वर्ग बनाने का प्रयास करेंगे तथा यदि वे वैराग्य की दिशा मे मुड गये तो आध्यात्मिकता का निर्मल प्रकाश बिखेरे बिना नही रहेगे।

यह त्याग जीवन के वास्तविक विकास का मूल है। जितना लोभ है, उतना ही क्षोभ है। जब लेने को ही मनुष्य कोशिश करता रहता है तो यह तो निश्चित नहीं है कि वह जो कुछ लेना चाहता है, वह उसे मिल ही जाय, किन्तु लेने के लोभ के पीछे वह अपने आत्मिक गुणों कितना सर्वनाश कर देता है—इसकी कोई सीमा नही। लोभ

की ऊपर की मात्रा हटा दीजिये—फिर लाभ ही लाभ है। लोभ काटें तो लाभ मिलेगा। लेना छोडकर देना सीखें तो उसके साथ सहानुभूति, सौहार्द्र, सहयोग एव स्नेह की जो मधुर धारा प्रवाहित होगी वह स्व-पर जीवन को श्रेष्ठता का पथगामी बना देगी यह त्याग इस तरह जीवन की दिशा को ही बदल देता है।

भारतीय सस्कृति मे त्याग को सदा एव सर्वत्र सम्मान मिला है। जिसने अपना छोडा है, उसे लोगो ने अपने सिर पर उठाया है। त्याग न सिर्फ त्यागी के जीवन मे एक नया उर्ध्वगामी परिवर्तन लाता है, वल्कि अपने चारों ओर के वातावरण मे भी जागृति का मत्र फूकता है।

परम पद की ओर गति

समता की उच्चतर श्रेणियो मे जब आत्मा प्रवेश करती है तो उसके मूल स्वरूप का—उसकी आधारगत शक्तियो का प्रकटीकरण होने लगता है। यह प्रकटीकरण ही आत्मा की परम पद की ओर गति का सकेत होता है।

आत्मा के स्वरूप पर जो विषय और कषाय की कालिख तथा क्रोध, मान, माया, लोभ की मलिनता चढी होती है—समता सीधा उन पर अपना असर करती है। क्रोध, कल्पना करें कि किसी भी कारण से आया, किन्तु यदि समता की सुदृढता हुई तो वह उस क्रोध को दवा देगी—फिर उसका उपशम करके ही वह शान्त नहीं होगी वल्कि क्रोध को समूचे तौर पर क्षय करने के सस्कारो को वह ढालेगी। मान के स्थान पर नम्रता, माया के स्थान पर सरलता और लोभ के स्थान पर त्याग के सस्कारों को समता पुष्ट बनाती है तो समता विषय भाव के स्थान पर सयम की लौ भी लगाती है।

इस तरह समता के सोपानो पर चढकर ज्यो ज्यों विषय कषाय के आते हुए प्रवाह को रोका और भीतर पडे इस मैल को निकाला तो

आत्मा का मूल स्वरूप त्यों-त्यो चमकता जायगा। जो शक्तियाँ विषय कषाय के वेग के नीचे दब गई थी, तब वे प्रकट होने लगेगी और आत्मा को अपनी निज की शक्ति का स्पष्ट बोध होने लगेगा। परम पद की ओर गतिशील ऐसी आत्मा ही अपनी सम्पूर्ण मलिनता मुक्ति के साथ परमात्मा के स्वरूप का वरण करती है।

"अप्पा सो परमप्पा"

इसीलिये कहा गया है कि यह जो आत्मा है, वही परमात्मा है। परमात्मा ऐसी कोई शक्ति नही, जो प्रारम्भ से परमात्मा रही हो अथवा जिसने इस ससार की रचना की हो। नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा—यही प्रकृति का प्राकृतिक विकास-क्रम होता है। नर से जुदा नारायण नही होता और आत्मा से अलग परमात्मा नही। ऐसा कोई विकास नही होता जो सीधा आसमान से गिरता हो। प्रत्येक विकास धरती से शुरू होता है अविकास से आरम्भ होता है। ज्ञान इस विकास का मार्ग दिखाता है, दर्शन उसमे विश्वास पैदा करता है तथा कर्म उस मार्ग पर अडिग होकर चलता है, तभी सच्चे विकास की यात्रा प्रारम्भ होती है। प्रकाशपूर्ण विकास के अन्तिम छोर का नाम ही मुक्ति है।

"अप्पा सो परमप्पा" का सिद्धान्त भेद को भूलकर प्रत्येक ऊँची नीची आत्या मे आस्था स्थापित करता है तथा उसमे उच्चतम विकास पूरा कर लेने की अटूट प्रेरणा भरता है। कोई आत्माएँ विशिष्ट है और वे सदा से विशिष्ट ही थी—ऐसी मान्यता समता की भावना से दूर कहलायगी। समता का मार्ग ही यह है कि सारी आत्माओं मे भव्यता होने पर समान विकास की शक्ति रही हुई है—यह दूसरी बात है कि उनमे से कई आत्माएँ उस शक्ति को प्रस्फुटित ही न करे अथवा विकास की दिशा मे अग्रसर न हो। समता की दृष्टि मे विकास

का भेद नही है, कर्म का भेद हो सकता है और जो जितना व जैसा कर्म करता है, वह वैसा व उतना विकास भी प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि समता मूल मे कर्मण्यता को जगाने वाली होती है।

समता का सर्वोच्च रूप

समता कषाय को काटती है, सरलता लाती है। वह मनुष्य को विषय से हटाकर विराग की ओर मोडती है तो जीवन को भोग से मोड कर त्याग की दिशा मे गतिशील बना देती है। इसी समता का स्वरूप जितना ऊपर उठता है, आत्मा का स्वरूप उतना ही समुज्ज्वल होता जाता है। समता की साधना यही कारण है कि समूचे जीवन की साधना होती है और जब समता अपने सर्वोच्च रूप तक उठ जाती है तो वह उस साधक आत्मा को भी परमात्मा के पद तक पहुचा देती है।

विषमता के अंधेरे मे जब यह आत्मा भटकती रहती है, तब इसकी ऐसी दीन हीन अवस्था दिखाई देती है जैसे वह तेजहीन और प्रभावहीन हो। किन्तु समता—सूर्य की पहली किरण ही उसमे ऐसी ताजगी भरती है कि उसका स्वरूप निखरने लगता है और ज्यो ज्यो समता सूर्य की लालिमा--इसका तेज आत्मा को उभारता रहता है, तब आत्मा के छिपे हुए अनन्त गुण—उसकी अनन्त शक्तियाँ प्रकट होने लगती है। तब उसकी वह प्राभाविकता अनुपम हो उठती है। उसकी वे शक्तियाँ न स्वयं उस आत्मा के विकास को प्रदर्शित करती हैं, बल्कि समाज को समुच्चय रूप से भी विकास की ओर प्रेरित बनाती है।

साध्य निरन्तर सम्मुख रहे

समता के सर्वोच्च रूप की उपलब्धि सरल नहीं है किन्तु वह प्रत्येक विकासोन्मुख जीवन के लिये साध्य अवश्य है। साध्य जब निरन्तर

सम्मुख रहे और चरण उसी दिशा मे बढते रहे तो देर सबेर से ही सही-साध्य की उपलब्धि होकर रहेगी।

इस सारी दार्शनिक पृष्ठ भूमि पर यदि व्यवहार मे समता का आचरण आरम्भ किया जाता है तो जीवन को गति उसी ओर मुड़ेगी, जिस ओर समता का साध्य रहा हुआ है। सिद्धान्त, जीवन, आत्मा और परमात्मा के इस चतुर्विध समता दर्शन के ज्ञान से यदि व्यवहार को सजाया और सवारा जाय तो व्यक्ति भी उठेगा तथा व्यक्ति-व्यक्ति के साथ व व्यक्ति-व्यक्ति के प्रभाव से समाज भी उठेगा। यह जन्म यदि अपने समूचे रूप मे ऊपर उठ जाता है तो फिर आने वाले जन्म स्वतः ही उठ जायेंगे—परमात्म पद की ओर आगे बढेंगे—यह सुनिश्चित है।

●

:८:

समता : व्यवहार के थपेड़ों में

जो जाना है और जिसे जानकर अच्छा समझा है, उसको अगर कार्य रूप नही दिया तो वह जानना महत्त्वपूर्ण एव सार्थक कैसे वन सकता है? ज्ञान की उपयोगिता आचरण मे रही हुई है। कोई भी दर्शन कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो—किन्तु यदि उससे उसके आचरण की सजीव प्रेरणा नहीं जागती तो उस दर्शन की श्रेष्ठता भी तबतक उपयोगी नहीं वन सकेगी। इस कारण व्यवहारिक पक्ष का पलड़ा हमेशा वजनदार माना जायगा।

आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थसूत्र मे इसी दृष्टि-विन्दु को लेकर कहा है कि "ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष"—अर्थात् मोक्ष ज्ञान और क्रिया दोनो से होगा। अनाचरित ज्ञान और अज्ञानपूर्ण क्रिया—दोनो जीवन के वास्तविक उत्थान के लिये निरर्थक है। जब ज्ञान अपने तेजस्वी स्वरूप को कर्मठ क्रिया मे प्रकट करता है, तभी तो विचार मुक्ति की सबल पृष्ठभूमि का भी निर्माण किया जा सकता है। समता की दार्शनिक पृष्ठभूमि भी तभी सार्थक मानी जायगी जब वह व्यवहार के थपेड़ो मे भी अपने आपको असफल न बना कर अपनी उपयोगिता प्रमाणित करती रहे।

व्यवहार के प्रबल थपेड़े

किसी वस्तुस्वरूप का ज्ञान होना सरल है किन्तु सम्यक् ज्ञान होना कठिन है और उससे भी अधिक कठिन होता है उस ज्ञान को अडिग रूप से व्यवहार मे लाना। व्यवहार के मार्ग मे ऐसे-ऐसे प्रबल थपेडे आते हैं कि अच्छे-अच्छे लोग भी कई बार डिग जाते हैं। यह तो व्यक्तिगत जीवन की बात है किन्तु सामाजिक जीवन मे तो ऐसे थपेडे कभी-कभी इतने प्रबलतम होते है कि जो सारे सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त बना देते हैं।

समता वृत्ति के इतिहास पर भी यदि एक दृष्टि डालें तो विदित होगा कि समतामय जीवन को व्यवहाररूप मे अपनाने के बीच मे व्यक्तिगत एव समाजगत बाधाओं का आरपार नहीं रहा है। समाज मे जिस वर्ग के स्वार्थ किसी तरह निहित हो जाते हैं, वह वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के अन्धेपन मे सदैव विषमता का प्रसार करता रहा है और सचमुच मे यही वर्ग समता का कट्टर शत्रु बन जाता है। जहाँ समता के व्यवहार-पक्ष पर विचार करना है वहाँ इस प्रसंग मे गहराई से यह खोजना जरूरी है कि इसको मूल कमजोरियाँ कौन-सी है और किन उपायों से समता के व्यवहार-पक्ष को व्यक्ति एवं समाज दोनों के आधारों पर सुदृढ बनाया जा सकता है ?

स्वहित की आरम्भिक संज्ञा

बच्चा गर्भाशय से बाहर आते ही और कुछ समझे या न समझे—अपनी भूख को तो तुरन्त समझ लेता है और उससे पीडित होकर स्तनपान के लिये रोना एव मुह फाडना शुरू कर देता है। यह बात मानव शिशु के साथ ही नहीं है। छोटा से छोटा जन्तु भी अपनी रक्षा के भाव को समझता है। चींटियाँ चल रही हों और वहाँ राख

डाल दी जाती है तो वे अपने बचाव के लिये वहाँ से शीघ्र खिसक जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि छोटे-बडे प्रत्येक जीवन मे आरम्भ मे ही स्वहित की सज्ञा का उदय हो जाता है।

स्वहित की इस आरम्भिक सज्ञा का विकास तीन प्रकार से हो सकता है जिनका मूल आधार उस प्रकार के वातावरण पर निर्मित होगा—

(१) पहला प्रकार तो यह हो सकता है कि यह स्वहित की सज्ञा एकागी एव जटिल बन कर कुटिल स्वार्थ के रूप मे बदल जाय कि मनुष्य को उसके आगे और कुछ सूझे ही नहीं। अपना स्वार्थ है तो सब है— दूसरों के हित की ओर दृष्टि तक न मुडे। ऐसी प्रवृत्ति गहन विषमता को जन्म देती है और समता की जडों को मूल से ही काटती है।

(२) स्वहित-परहित के सन्तुलन का दूसरा प्रकार एक तरह से समन्वय का प्रकार हो सकता है कि अपना हित भी आदमी देखे किन्तु उसी लगन से दूसरों के हित के लिये भी वह तत्पर रहे। अपने और दूसरो के हितों को इतना सन्तुलित बना दे कि कहीं उनके बीच टकराव का मौका न आवे। साधारण रूप से समाज मे समग्र दृष्टि से इस प्रकार की क्रियान्विति की आशा की जा सकती है। यह समता की दिशा है।

(३) तीसरा त्यागियों और महानपुरुषो का प्रकार हो सकता है कि परहित के लिये स्वहित का बलिदान कर देना। ऐसे बलिदानी सर्वस्व त्याग की ऊँची सीमा तक भी पहुंच जाते हैं। सच पूछें तो विश्व को समता का दिशादान ऐसे महापुरुष ही किया करते हैं क्योंकि उनके त्यागमय चरित्र से ही समता की सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्रकाशमय बनती है।

स्वहित के सही मोड़ की बाधाएँ

स्वहित की सज्ञा का सही मोड हो तो वह परहित के साथ बलिदान बाद मे भी करे किन्तु सन्तुलन करना तो जल्दी ही सीख लेगी और सन्तुलन की वृत्ति से ही व्यक्तिगत एव सामाजिक जोवन का स्वास्थ्य बहुत कुछ सुधर जायगा। इस सही मोड की सबसे बडी और कडी बाधा है—विषमता। विपमता जो आज है और जो नितप्रति नये-नये जटिल रूपों मे ढलती हुई सामाजिक जीवन को पग-पग पर काटती जा रही है।

जहाँ तक विषमता बढती रहेगी—स्वार्थ सर्वोपरि बना रहेगा और ऐसी मनः स्थिति मे परहित का भाव ही नही उपजेगा, क्योंकि अपने स्वार्थ के अन्यायपूर्ण सघर्ष मे मनुष्य परहित को तो हर समय क्षत-विक्षत करता रहेगा—स्वहित-परहित मे सन्तुलन वृत्ति का जन्म ही समता की दिशा को उजागर करता है। समता पहले सन्तुलन को पनपाती है तो उसका विकसित रूप स्वहित के त्याग मे प्रस्फुटित होता है।

प्रत्येक जीवन मे स्वरक्षा का भाव हो—यह अस्वाभाविक नही है किन्तु यह भाव अन्य जीवनों के साथ रलमिल कर त्याग एव बलिदान के ऊँचे स्तरो तक पहुचे—यह मानव-जीवन एव मानव-समाज का सतत प्रयास होना चाहिये। इस प्रयास के बीच आने वाली बाधाओं को समझना, उनके कारणों पर चोट करना तथा उनको जीत कर स्वहित को समता के रग मे रग देना—यही समता का सजग एव सफल व्यवहारिक पक्ष हो सकता है। इसी पक्ष को यहाँ समझने का यत्न किया जा रहा है।

समता का दुर्दान्त शत्रु—स्वार्थ

यूरोपीय दार्शनिक हॉब्स ने एक वाक्य कहा है कि मनुष्य एक भेडिया होता है। इससे शायद उनका यही अभिप्राय रहा होगा कि यदि मनुष्य की स्वार्थ वृत्ति पर उसका स्वेच्छिक एव सामाजिक नियत्रण

उपयुक्त मात्रा मे स्थापित न हो तो वह सचमुच मे भेड़िया हो सकता है। अगर मनुष्य को अपने ही स्वार्थ पूरे करने की खुली छूट हो तो कहा नही जा सकता कि वह उस स्वार्थ के पीछे अपने-आपको कितना अन्यायी, अत्याचारी एव निर्दयी न बना ले। इतिहास मे इस तथ्य के सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे जब सत्ता, सम्पत्ति या अन्य स्वार्थों मे फसकर मनुष्य ने क्या-क्या अन्याचार नहीं किये ?

यह स्वार्थ ही व्यक्ति और समाज के जीवन मे विषमता को विष बेल लगाने और पनपाने वाला है। व्यक्ति के मन से जन्म लेकर यह स्वार्थ इतनी प्रकार की विविध प्रक्रियाओ मे फैल जाता है कि इसे बोतल के भूत की उपमा दी जा सकती है। अगर उस स्वार्थ को व्यक्ति एव समाज के सुनियत्रण की बोतल मे रहने दें तब तो इस दैत्य का आकार बहुत छोटा भी रहेगा और खतरनाक भी नही होगा। परन्तु जैसा कि आज है—यह दैत्य बोतल से बाहर निकला हुआ है और समस्त वायु-मडल मे इस तरह छाया हुआ है कि जैसे जो भी साम लेता है—स्वार्थ का असर कम-ज्यादा उस पर पड़ ही जाता है। जितना यह असर है, उतनी ही विषमता जटिल है—यह मान लेना चाहिये।

स्वार्थ को एक बाध की तरह भी माना जा सकता है कि जहाँ इसके सुनियत्रण मे जरा सी भी ढील आई कि यह फिर सारी पाल को तोडकर चारो ओर फैलते हुए पानी की तरह मनुष्य की नैतिकता को डुबो देता है। अत यदि हमे विषमता से दूर हटते हुए समता के मार्ग पर आगे बढ़ना है तो वे उपाय अवश्य ही खोज निकालने होगे जिनके द्वारा स्वार्थी मन से स्वार्थ के मदोन्मत्त हाथी पर कड़ा अकुश लगाया जा सके। अगर यह प्रयास सफल हो जाय तो निश्चित मानिये कि विषमता की विष बेल को उखाड़ कर समता के सुवासित सुमन उगाने मे फिर अधिक समय या श्रम नही लगेगा।

सुनियत्रण की दुधारी चाहिये

प्रत्येक आत्मा मे स्वभावत चेतना का सद्भाव रहता है तथा मानव जीवन मे तो इसका चेतनाशील माना हो गया है। इस चेतना का

स्वार्थ के घातक आक्रमणों से बचाने के लिये निम्न दो उपाय मुख्यतः हो सकते हैं—

(१) पहला सुनियत्रण तो स्वयं आत्मा का अपने ऊपर हो और यही वास्तविक नियत्रण भी है। अपने ही ज्ञान और विवेक से जो पतन के मार्ग को पहिचान जाता है, वह अपने जीवन मे व्यवहारिक प्रयोग के नाते अपने को उन विकारो से बचाना चाहता है जो पतनकारक होते हैं। आत्म-नित्रयण की श्रेष्ठता को चुनौतो नहीं दी जा सकती है।

(२) दूसरा नियत्रण होता है सामाजिक नियत्रण। जबतक आत्मा के अनुभावों मे विवेक की पर्याप्त मात्रा नहीं जागती अथवा विकारों की तरफ बढने की उसमे उद्दाम लालसा होती है, तबतक व्यक्ति में स्वार्थ को सामाजिक उपायों से ही नियत्रित किया जा सकता है। आत्म नियत्रण की स्थिति मे भी जब कमजोरी के क्षण आते हैं और फिसलने का खतरा पैदा हो जाता है, तब भी सामाजिक नियत्रण ही मनुष्य के स्वार्थ को आक्रामक बनने से रोक सकता है।

नियत्रण की दुधारी इन दोनों प्रकारों को कहा गया है कि हर समय एक न एक धार स्वार्थ के सिर पर खडी रहे ताकि वह बोतल से बाहर निकलने की धृष्टता न कर सके। मन को दुर्बलता तक समाज का नियत्रण और उसके कम होने के साथ-साथ स्वय के नियत्रण की मात्रा वढती जाय। इस व्यवस्था से स्वार्थ नियत्रित रहेगा और मनुष्य के मन मे समता की वृत्ति घनिष्ठता से जमती जायगी।

सामाजिक नियंत्रण की प्राथमिकता

सामान्य रूप से समाज मे वहुसख्यक ऐसे लोग होते है जिनका विवेक वांछित सीमा से नीचा होता है और जो अपने ही अनुशासन को समझने, कायम करने तथा उसका पालन करने की क्षमता से हीन होते हैं। उन्हे नियत्रण की परिधि मे लाने के लिये तथा आत्म-विकास की ओर अग्रसर वनाने के लिये आवश्यक हो जाता है कि उस समाज मे राजनीति, अर्थ-नि, परम्पराओं एव प्रक्रियाओं का गठन इस रूप मे किया जाय कि वह

गठन नियामक भी हो और प्रेरक भी। सामाजिक नियंत्रण की ऐसी व्यवस्था में साधारण मनुष्य स्वार्थी दैत्य के शिकंजे में न फंस सके—ऐसा प्रयास होना चाहिये।

मानव समाज के वैज्ञानिक विकास की ओर एक दृष्टि डालें तो स्पष्ट होगा कि इस स्वार्थ पर सामाजिक नियंत्रण करने की यत्किंचित् व्यवस्था के कारण ही वह पशुता के घेरों को तोड़ कर मानवता की ओर आगे बढ़ा है। जिसे वर्तमान संस्कृति एवं सभ्यता का पूर्व युग कहा जाता है, माना जाता है कि तब मनुष्य पशु की तरह घूमता था और सिर्फ स्वहित को ही समझता था। ज्यों ज्यों वह अपने अन्य साथियों के सम्पर्क में आया, उसने ज्ञान, कला, विज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्रों में अपने कर्म एवं चिन्तन से संस्कृति एवं सभ्यता का विकास किया है। तो जिस सामाजिकता ने उसे विकास के उस स्तर तक पहुंचाया है, उसी सामाजिकता को यदि समतामय जीवन की नैतिकता से नियंत्रित बनाई जाय तो निश्चय ही आज के विषम जीवन को नये रूप में ढाला जा सकेगा।

सामाजिक नियंत्रण को प्राथमिकता देने का यही रहस्य है कि अविकास की अवस्था में यही नियंत्रण अधिक कारगर होता है तथा नियंत्रित को आत्म-नियंत्रण की ओर मोड़ता है। यह सही है कि जो एक बार आत्म-नियंत्रण के महत्त्व को समझ जाता है, वह फिर आत्म-विकास के सच्चे मार्ग को भी ढूंढ लेता है।

सामाजिक नियंत्रण का साध्य क्या हो ?

समाज में एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ, एक नागरिक संगठन के दूसरे नागरिक संगठन के साथ अथवा नागरिक के राज्य के साथ या राज्य के अन्य राज्यों, राष्ट्रों व अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में जैसे सम्बन्ध हों—इनके कोण स्वरूप एवं प्रकार हो सकते हैं। सामाजिक जीवन की आज की स्थितियों में पूंजीवाद भी है तो समाजवाद या साम्यवाद भी है, किन्तु किसी भी एक प्रणाली के प्रति दुराग्रह या आग्रह भी बन जाए

तो वह साध्य की स्थिति को अस्पष्ट बना देता है। अतः जब हम व्यक्ति पर सामाजिक नियत्रण को कल्पना करें तो उसके साध्य की स्पष्ट कल्पना हमारे सामने होनी चाहिये।

स्पष्ट है कि मानव समाज का अन्तिम उद्देश्य यही हो सकता है कि मानव स्वार्थ के पशुत्व को छोडकर मानवता का वरण करे और उससे भी आगे त्याग एव बलिदान के पथ पर बढकर समता के चरम आदर्श तक पहुचे एव दैवत्व को धारण करे। सक्षेप मे यह कह दें कि वह स्वहित का त्याग करके भी परहित के लिये अधिक जागरूक बने। इसका अर्थ होगा कि उसे स्वार्थ से भी परार्थ अधिक भायगा। स्वार्थ छूटेगा तो विषमता कटेगी। जितना परार्थ का भाव दृढ बनेगा, उतने ही अशों मे समता के समरस मे आत्मा आनन्दमग्न बनती जायगी।

साध्य स्पष्ट रहे तो साधनों मे अधिक विवाद बढने की गुजाइश कम रहेगी। ऐसी परिस्थिति में साधनों के प्रति रूढ भाव धारण करने की वृत्ति भी नही बनती है। जब यह लगता है कि अपनाया हुआ साधन साध्य तक पहुचाने मे अक्षम बनता जा रहा है तो तुरन्त साधन मे यथोचित परिवर्तन कर लेने मे कोई सकोच नही होगा। तब साध्य की तरफ ही सजग दृष्टि बनी रहेगी।

आत्म-नियंत्रण की दिशा में

राजनीति, अर्थ एव अन्य पारम्परिक सम्बन्धों को जब सामाजिक नियत्रण में व्यवस्थित रूप से ले लेंगे तो इन क्षेत्रों मे व्यक्तिगत उद्दडता को रोकी जा सकेगी। अविकास एव अज्ञान के कुप्रभाव से भी व्यक्ति ऐसी अवस्था मे पशुता की ओर नही बढ सकेगा। इस प्रकार एक बार मनुष्य को भेडिया बनाने वाले वातावरण को बदल दिया गया तो यह सभव हो सकेगा कि समूचे समाज को सामान्य नैतिकता के धरातल पर खडा किया जासके याने कि मनुष्य की कम से कम ऐसी वृत्ति तो पूरी तरह ढल ही जाय कि वह स्व-हित एव परहित को सघर्ष

मे न डाले। वह दोनो के बीच समाज के सभी क्षेत्रो मे सन्तुलन स्थापित कर सके।

जिस दिन समाज इस स्तर पर आरूढ हो जायगा तो उस दिन आत्म-नियत्रण की दिशा भी सर्वाधिक सुस्पष्ट बन जायगी, क्योंकि व्यक्ति को उस समय यह ध्यान होगा कि उसको कमजोरी के क्षणो मे भी समाज उसे उसकी उन्नता से नीचे गिरने नहीं देगा। यह मानस उसे आत्म-नियत्रण की दिशा मे अग्रगामी बनाता रहेगा। किसी के लिये जितने अधिक बाहरी नियत्रण की आवश्यकता होती है—यह समझा जाय कि वह अभी उतना ही अधिक अविकास की स्थिति मे पडा हुआ है। जो जितना अधिक आत्म-नियत्रण की दिशा मे आगे बढता है—यह मापदड है कि वह उतना ही अधिक विवेक एव विकास की सुदृढता को प्राप्त करता है। जो आत्म-नियत्रण करना सीख जाता है, वही तो सयमी कहलाता है और जो सयमी है, वह समता को अपने जीवन मे ऊँचा से ऊँचा स्थान अवश्य देगा।

आत्म-नियंत्रण का व्यवहारिक पहलू

आत्म-नियत्रण का व्यवहारिक अर्थ यह है कि वह धर्म की ओर गति-शील होता है, क्योंकि दशवैकालिक सूत्र मे धर्म का स्वरूप बताया है—

"धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिसा सजमो तवो !"

मगलमय धर्म वही है जो अहिंसा, सयम एव तप-रूप है। अहिंसा, सयम एव तप की आराधना वही कर सकता है जो निज पर नियत्रण रखना सीख जाता है। अहिसा परहित पर आघात नहीं होने देगी, सयम स्वार्थ को कभी ऊपर नहीं उठने देगा तो तप स्वार्थ के सूक्ष्म अवशेषों को भी नष्ट कर देगा।

यह जाना जा चुका है कि विषय और कषाय का मूलतः फेलाव विषमता के कारण होता है। क्योंकि जब कोई दूसरा अपने स्वार्थ से टकराता है तो क्रोध आता है, उस टकराव को मिटाने के लिये माया का

सहारा लिया जाता है, जब अपना स्वार्थ जीत जाता है तो मान बढ जाता है और स्वार्थी लोभ को तो छोडता ही कहाँ है ? कषायें विषय को बढाती है और जीवन के हर पल और पहलू मे राग व द्वेष के कुत्सित भाव को भरती है।

अतः अपनेआपको नियन्त्रित करने का अभिप्राय ही यह है कि अपने विकारो को—विषय एव कषाय को नियन्त्रित करो—यही आत्म नियन्त्रण का व्यवहारिक पहलू है। सम्यक्त्व धारण करने पर व्रती बना जाय और उसके बाद श्रावकत्व से साधुत्व की ऊँची सरणियो मे चढते हुए मोक्ष की मजिल तक पहुँचा जाय—गुणो के इन चौदह स्थानों का वर्णन पहले दिया जा चुका है। आत्म-नियन्त्रण का तात्पर्य्य गुणवृद्धि और गुणवृद्धि का तात्पर्य्य समतामय जीवन होना ही चाहिये। समता जब जीवन मे उतरती है तो वह चिकने विकारो का शमन भी करती है तो सम्पूर्ण जीवनधारियो के बीच समत्व की भावना की स्थिति का भी निर्माण करती है।

व्यवहार में थपेड़े आवश्यक हैं

थपेड़ो का साधारण अर्थ यहॉ कठिनाइयो से लिया जा रहा है और समता साधना के वीच जो कठिनाइयॉ आती है, वे व्यवहारिक कठिनाइयाँ मनुष्य को ऊपर भी चढाती है तथा नीचे भी गिरा देती है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की तुलना मे सम्यक् चरित्र स्वय ही अधिक कठिन होता है और जब आचरण मे विविध प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं एव उस आचरण की स्वस्थ प्रक्रिया को भ्रष्ट करना चाहती है तब जो अडिग रहता है, वह जीवन की ऊँचाइयों मे विहार करता जाता है किन्तु जो उनके सामने झुक जाता है—हार जाता है, वह अपनी सम्पूर्ण साधना को भी मिट्टी मे मिला देता है।

आग मे न तपाया जाय तो सोने की पक्की परीक्षा न हो सकेगी, ी प्रकार एक चरित्र-साधक को यदि कठिन कठिनाइयो का सामना

न करना पड़े तो उसकी साधना भी कसौटी पर खरी नहीं उतरेगी। अत: सुगठित विकास के लिये व्यवहार मे थपेड़े आवश्यक है।

समता के व्यवहार पर भी यही सिद्धान्त लागू होता है। समता की दार्शनिक एव सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि समझने एव मानने के बाद जब उस पर क्रियान्वयन किया जायगा तब देश, काल के अनुसार अवश्य ही कई तरह की व्यवहारिक कठिनाइयाँ सामने आवेगी और उनका यदि सही मुकाबिला हुआ तो विषमता की स्थितियाँ नष्ट होती हुई चली जायगी। ये थपेड़े वैसी अवस्था मे मनुष्य के मन को समता की ओर सोत्साह मोड देंगे।

व्यवहार के थपेडों में समता की कहानी

यह एक सत्य है कि मानव मन के मूल मे समता की प्रबल चाह रमी हुई है। वह भूलता है, गिरता है किन्तु जब भी थोडी बहुत चेतना पाता है तो हर तरह से समता लाने का प्रयत्न करने लगता है। इसी चाह का परिणाम है कि मनुष्य ने समता के क्षेत्र मे काफी सफलताएँ भी प्राप्त की हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से मानव जाति ने ऐसी ऐसी विभूतियों को जन्म दिया है, जिन्होंने समता के प्रकाशस्तभ बन कर नवीन आदर्शों एव मूल्यों की स्थापना की। महापुरुषो एव मुनियों के त्यागमय जीवन चरित्र आप पढते और सुनते है, जिनसे स्पष्ट होता है कि समता की रक्षा के लिये उन्होंने किसी भी बलिदान को कभी बडा नहीं समझा। सर्वस्व-त्याग उनका आदर्श बिन्दु रहा।

सासारिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे भी मनुष्य ने सदा समता के लिये सघर्ष किया है। राजतत्र के कुटिल अत्याचारों से निकल कर प्रत्येक के लिये समान मताधिकार की जो उसने राजनीति के क्षेत्र मे

उपलब्धि की है, वह कम नहीं है यह दूसरी बात हैं कि अन्य क्षेत्रो मे समता कायम न कर सकने के कारण समान मताधिकार आवश्यक रूप से प्रभावशाली नही बन सका है। अब आर्थिक क्षेत्र मे भी समता के प्रयास हो रहे हैं—सम्पन्नों एव अभावग्रस्तों के बीच की खाई को जितनी तेजी से पाटी जा सकेगी दोनों के बीच समानता भी उतनी ही हार्दिकता से बढेगी। समाज के अन्य क्षेत्रों मे भी समता पाने की भूख तेजी से बढती जा रही है और हर आदमी के मन मे स्वाभिमान जाग रहा है जो उसे समता कायम करने की दिशा मे सशक्त भी बना रहा है।

फिर भी समता की दिशा मे करने को बहुत है। स्वार्थ के दुर्दान्त शत्रु को वश मे करने के लिये उचित सामाजिक नियत्रण की स्थायी व्यवस्था के लिये भी बहुत कुछ सघर्ष करना शेष है। इसके बाद भी वह नियत्रण स्वस्थक्रम से चलता हुआ आत्म-नियत्रण को अनुप्रेरित करे—इस लक्ष्य के लिये आवश्यक सघर्ष करना होगा। समता का व्यवहार-पक्ष इन्ही थपेडों के बीच अमित धैर्य एव साहस के साथ जम सकेगा, बशर्ते कि इन थपेडों मे समता का अस्तित्व ही न उखड जाय। आज यही सतर्कता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है।

क्रान्ति की आवाज उठाइये !

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य अपने जीवन मे गिरता, बदलता और उठता रहेगा, किन्तु समूचे तौर पर मनुष्यता कभी भी समाप्त नही हो सकेगी। मनुष्यता का अस्तित्व सदा अक्षुण्ण बना रहेगा। उसका अस्तित्व मात्र ही न बना रहे, वल्कि समता के समरस स्वरों मे ढल कर मनुष्यता का आदर्श स्वरूप प्रकाशित हो—इसकेलिये आज क्रान्ति की आवाज उठाने की नितान्त आवश्यकता है। क्रान्ति आज के विषमता-जन्य मूल्यों के त्वरित परिवर्तन के प्रति—ताकि समतामय समाज के ये उन्नायक मूल्यों की स्थापना की जा सके।

क्रान्ति के प्रति कई लोगो की भ्रान्त धारणा भी होती है। कुछ लोग क्रान्ति का अर्थ रक्तपात मात्र मानते है। क्रान्ति का सीधा अर्थ कम ही लोग समझते है। प्रारभ होने वाला प्रत्येक तत्त्व या सिद्धान्त अपने समग्र शुद्ध स्वरूप मे ही आरभ होता है किन्तु कालक्रम मे उसके प्रति शैथिल्य का भाव आता है तब शिथिलता से उसके आचरण मे विकारों का प्रवेश भी होता है। इस विकृत-स्थिति के प्रति जो विद्रोह किया जाता है तथा फिर से उस विकार को निकाल कर शुद्ध स्थिति लाने की जो चेष्टा की जाती है—उसे ही क्रान्ति कह लीजिये। विकृत मूल्यों के स्थान पर फिर से शुद्ध मूल्यों की स्थापना हेतु जो सामूहिक सयत प्रयास किया जाता है—उसी का नामकरण क्रान्ति है।

आज जब क्रान्ति की आवाज उठाने की बात कही जाती है तो उसका सरल अभिप्राय यही लिया जाना चाहिये कि विषमता से विकृत जो जीवन प्रणाली चल रही है, उसे मिटाकर उसके स्थान पर ऐसी समतामय जीवन प्रणाली प्रारम्भ की जाय जिससे समाज मे सहानुभूति, सहयोग एव सरलता की गगा बह चले।

युवा वर्ग पर विशेष दायित्व

विकास के लिये परिवर्तन सामान्यरूप से सभी का दायित्व है किन्तु जहाँ परिवर्तन का नाम आता है, एक उत्साहभरी उमग एव कठिन कर्मठता का स्मरण हो आता है और यह यौवन का विशेष आभूषण होता है। सच्चा यौवन कर्मक्षेत्र मे कूद पडने से एक क्षण के लिये भी नहीं हिचकिचाता और बडे से बडे आत्म-समर्पण के लिये वह छटपटाता रहता है। जलने का नाम जवानी है और यह ऐसी आग है जो खुद जलती है, मगर दूसरों को रोशनी और सहायता पहुचाती है। अतः जब यह कहे कि ऐसी क्रान्ति लाने का युवा वर्ग पर विशेष दायित्व है तो इस कथन का भी इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इस जागरण

के शख को फूकना युवा एवं प्रबुद्ध वर्ग का ही विशेष दायित्व इसी कारण से समझा जाना चाहिये।

यह तथ्य भी विचारणीय है कि इस हेतु युवा वर्ग को—स्वय को भी बहुत कुछ बदलना होगा। उनकी वर्तमान प्रवृत्तियाँ साधारणरूप से आज उत्साहप्रद नहीं दिखाई देती है किन्तु समय की पुकार को उसे सुनना होगा और अपने को बदलने के साथ-साथ सारे समाज को बदलने का बीड़ा भी उसे उठाना होगा।

समय की बांह को थाम लें

समय किसी की प्रतीक्षा नही करता। जो आगे बढ़कर समय की बांह को थाम लेता है, वही समय को अपने पीछे भी कर लेता है। समय से आगे चलने वाला अर्थात् समय को अपने पीछे चलाने वाला ही युग-प्रवर्तक का पद पाता है। युग-प्रवर्तक अपनी चाल मे समय को चला कर नये समतामय समाज का निर्माण करता है।

आज अपने पुरुषार्थ, विवेक एव त्याग से समय की इसी बांह को पकडना है और समता की सरसता से विषमता के घावों को धोकर समाज को नया स्वास्थ्य प्रदान करना है। इस पुरुषार्थ का यह सुखद परिणाम सामने आयगा कि मानवता फिर से स्फूर्तिवान होकर आपस मे भेंटती, पुलकती और दौडती हुई सर्वाङ्गीण विकास के लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जायगी।

समता की अमृत-वर्षा

समता की अमृत-वर्षा से मानव-मन को तृप्त कीजिये—उसकी वाणी सदाशय झकार जन-जन को स्नेहपूर्ण मधुरता से झकृत बना देगी और

फिर मनुष्य का कर्म आपदाओं की हजारों दीवारों को लांघता हुआ अपने पौरुष से ऐसे नव संसार की सृष्टि करेगा जहाँ परस्पर आत्मीयता का अनुभाव एक बाती से दूसरी बाती को जलाते हुए कोटि-कोटि दीपों के निर्मल प्रकाश से कण कण को प्रदीप्त कर देगा।

समता का यह समरस स्वर अपनाने, जगाने और फैलाने के लिये साहस और पुरुषार्थ के साथ आगे आइये—यहाँ अगले अध्यायों में व्यवहार की एक सबल रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है कि बिना सम्प्रदाय, जाति, प्रदेश अथवा अन्य किसी भेदभाव के कैसे प्रत्येक मनुष्य केवल मनुष्यता के धरातल पर खड़ा होकर समग्र मनुष्यता के जागरणहित अपने आपको क्रियाशील बना सकता है?

सिद्धान्त का विकास उनके व्यवहार में होता है, इसलिये व्यवहार की प्रक्रिया को जीवन के नये मूल्यों के साथ बांधना तथा समता के समरस स्वरों में उसे ढालना व्यवहारिक पक्ष का प्रमुख अंग है।

❀

:९:

समतामय आचरण के इक्कीस सूत्र एवं तीन चरण

एक समता-साधक व्यवहार के धरातल पर खड़ा होकर जब आचरण के विशद् रूपों पर दृष्टि डालता है तो एक बार उसका चिन्ताग्रस्त हो जाना अस्वाभाविक नही होगा कि वह समता के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये किन सूत्रो को पकडे और किन चरणो से गति करे ? फैले हुए विशाल भू मंडल को जान लें, देख लें, किन्तु जब एक बिन्दु से उस पर चल कर एक निश्चित गन्तव्य तक पहुचने तक इरादा करें तो यह जरूरी होगा कि एक निश्चित पथ का भी चयन किया जाय या कि अपनी एक पगडडी की ही रचना की जाय।

सही मार्ग को ढूढ कर चलना अथवा अपने गम्भीर ज्ञान एव कठोर पुरुषार्थ से नई पगडडी की रचना करना निश्चय ही जीवन मे एक भगीरथ कार्य होता है। आचरण के बिखरे हुए सूत्रो को समेटना एव उनकी मर्यादा मे गति करना—ये ही तो चरित्र की विशेषताएँ होती है। आचरण के सूत्रों के निर्धारण मे वर्तमान परिस्थितियों का पग-पग पर ध्यान रखना होगा कि वह ऐसा सशक्त हो जो व्यक्ति के निजी एव सामूहिक दोनों प्रकार के जीवनो को वांछित दिशा मे गतिशील सके।

विषमता से समता की ओर

यह गति स्पष्ट रूप से विषमता से समता की ओर होनी चाहिये। ज्ञान के आलोक मे जिन विषमताजन्य समस्याओ का अध्ययन किया है, उनका समाधान समतामय आचरण से निकालना होता है। व्यक्ति मन, वाणी एव कर्म के किसी भी अश मे विषमता का अधेरा न फैलने दे तो सामाजिक जीवन मे भी विषमता अपना जमाव नहीं कर सकेगी। यह तभी सभव है जब अहिसा एव अनेकान्त के सिद्धान्तों पर सूक्ष्म दृष्टि से आचरण किया जाय।

समता की भावना को खडित करने वाले मुख्यतः दो प्रकार के सघर्ष होते है। पहला स्वार्थों का सघर्ष तो दूसरा विचारो का सघर्ष। मन, वचन या काया से किसी अन्य प्राणी को बल्कि उसके किसी भी प्राण को किसी प्रकार कोई क्लेश नही पहुचाना बल्कि शाति देना एव रक्षा करना—यह अहिसा का मूल है। एक अहिंसक अपने स्वार्थ को तिलाजलि दे देगा, किन्तु किसी को तनिक भी क्लेश पहुंचाना स्वीकार नही करेगा। स्वार्थों के टकराव का निरोधक अस्त्र अहिंसा है तो अनेकान्त विचारो के टकराव को रोकता है। यह सिद्धान्त प्रेरणा देता है कि प्रत्येक के विचार मे निहित सत्याश को ग्रहण करो एव अश-अश मिलाकर पूर्ण सत्य के साक्षात्कार की उच्चतम स्थिति तक पहुँचो।

समता के इन दोनों मूलाधारो को यदि जीवन मे उतारा जाय तो विषमता तीव्र गति से मिटनी शुरू हो जाएगी।

परिवर्तन का रहस्य आचरण में

विषमता से समता मे परिवर्तन अपनी-अपनी साधना शक्ति के अनुसार एक छोटी या लम्बी प्रक्रिया हो सकती है किन्तु इस परिवर्तन का रहस्य अवश्य ही आचरण की गरिमा मे समाया हुआ रहता है।

कोई भी परिवर्तन बिना क्रियाशीलता के नही आता। बिच्छू काटे की दवा कोई जानता है किन्तु बिच्छू के काटने पर अगर वह उस दवा का प्रयोग करने की बजाय उस जानकारी पर ही घमड करता रहे तो क्या बिच्छू का जहर उतर जायगा ? यही विषमता का हाल होता है।

विषमता मिटाने का ज्ञान कर लिया किन्तु उस ज्ञान को आचरण मे ढाले बगैर विषमता मिटेगी कैसे ? और इस ज्ञान का नकारात्मक और स्वीकारात्मक दोनो रूपों मे प्रयोग होना चाहिये। विषमता मिटाने के नकारात्मक प्रयोग के साथ साथ समता धारण करने का स्वीकारात्मक प्रयोग भी जब कार्यरत होगा तो परिवर्तन का पहिया तेजी से घूमने लगेगा।

समतामय आचरण के २१ सूत्र

समतामय आचरण के अनेकानेक पहलू एवं रूप हो सकते हैं किन्तु सारे तत्त्वों एव परिस्थितियो को समन्वित करके उसके निचोड मे इन २१ सूत्रो की रचना इस उद्देश्य से की गई है कि आचरण के पथ पर जिन्हे पकड कर समता की गहन साधना आरभ की जा सकती है। इन २१ सूत्रों मे मनुष्य के अन्तर एव बाहर के भावों व कार्यो का विश्व तक के व्यापक क्षेत्र मे शांति एव समताभरा तालमेल बिठाने का यत्न किया गया है। यह समझना चाहिये कि यदि समुच्चय रूप से एक समता साधक इन २१ सूत्रों को आधार मान कर सक्रिय बनता है तो वह साधना के उच्चतर स्तरों पर सफलता प्राप्त कर सकता है। ये २१ सूत्र इस प्रकार हैं :—

१ हिंसा का परित्याग
२ मिथ्याचरण छोड़ें
३ चोरी और खयानत से दूर
४ ब्रह्मचर्य का मार्ग
५ तृष्णा पर अकुश
६ चरित्र मे दाग न लगे
७ अधिकारो का सदुपयोग
८ अनासक्त-भाव
९ सत्ता और सम्पत्ति साध्य नहीं
१० सादगी और सरलता

११ स्वाध्याय और चिन्तन
१२ कुरीतियों का त्याग
१३ व्यापार सीधा और सच्चा
१४ धनधान्य का सम-वितरण
१५ नैतिकता से आध्यात्मिकता
१६ सुधार का अहिंसक प्रयोग
१७ गुण-कर्म से वर्गीकरण
१८ भावात्मक एकता
१९ जनतत्र वास्तविक बने
२० ग्राम से विश्व धर्म
२१ समता पर आधारित समता

अव यहाँ इन २१ सूत्रों को सरल भाषा मे सक्षिप्त टिप्पणी के साथ अकित किया जा रहा है जिन्हे पाठकों को अपने चिन्तन का विषय वनाना चाहिये।

सूत्र १ला : हिंसा का परित्याग

अत्यावश्यक हिंसा का परित्याग करना तथा आवश्यक हिंसा की अवस्था मे भी भावना तो व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र आदि की रक्षा की रखना तथा विवशता से होने वाली हिंसा मे लाचारी अनुभव करना, न कि प्रसन्नता।

समता के साधक को हिंसा के स्थूलरूप का तो परित्याग कर ही लेना चाहिये—इसका अभिप्राय यह होगा कि वह स्वहित के लिये तो परहित पर कोई आघात नहीं पहुचायगा। सन्तुलन के विन्दु से जब वह साधना आरम्भ करेगा तो स्वार्थो का सघर्ष अवश्य ही कम होगा। स्वहित की रक्षा मे यदि उसे आवश्यक हिंसा करनी भी पडे तब भी वह उस हिंसा का आचरण खेदपूर्वक ही जाने तथा स्वहितों को परहित के कारण परित्याग करने की शुभ भावना का निर्माण करे ताकि एक दिन वह पूर्ण अहिंसक व्रत अगीकार कर सके।

सूत्र २रा : मिथ्याचरण छोड़ें

झूठी साक्षी नहीं देना तथा स्त्री, पुरुप, पशु आदि के लिये भी न मिथ्या भाषण करना तथा नहीं किसी रूप मे मिथ्याचरण करना।

विपमता के फैलाव मे झूठ का बहुत वडा योगदान होता है। अकेला झूठ ही सम तत्त्वो को विषमतम वना देता है। समता की लाठी सत्य होती है तो झूठ अपने हर पहलू मे विपमता की तीव्रता को बढाता है। मिथ्याचरण के परित्याग का अर्थ होता है कि विपमता के विविध रूपों से सघष किया जाय तथा समता-भावना के विस्तार मे सत्याचरण से सहयोग दिया जाय।

सूत्र ३रा : चोरी और खयानत से दूर

ताला तोडकर, चाबी लगा कर या सेध लगाकर वस्तु नही चुराना। दूसरों की अमानत मे खयानत नही करना तथा चोरी के सभी उपायो से दूर रहना।

वर्तमान युग मे अचौर्य्य व्रत को गंभीरता से लिया जाना चाहिये। समता साधक चोरी के सभी प्रकार के स्थूल उपायो से दूर रहे किन्तु उसके साथ ही अमानत मे खयानत की विशेषता को भी समझे। इसका सम्बन्ध श्रम-शोषण से है। एक मजदूर एक मालिक की मिल मे मजदूरी करता है तो वहाँ वह जो अपना श्रम नियोजित करता है—एक तरह से वह श्रम याने उसका उत्पादक मूल्य उस मजदूर का मालिक को अमानत रूप मे मिलता है। अब यदि मालिक मजदूर के १०) रु० प्रतिदिन के मूल्य की एवज मे उसे ५) रु० की ही दानगी देता है तो यह इस नजरिये से अमानत मे खयानत ही कहलायगा। आज की जटिल आर्थिक व्यवस्था मे समता साधक को चोरी के कई टेढे-मेढे तरीको से बचना होगा।

सूत्र ४था : ब्रह्मचर्य का मार्ग

परस्त्री का त्याग करना एव स्वस्त्री के साथ भी अधिकाधिक ब्रह्मचर्य व्रत का अनुपालन करना तथा वासनाओ पर न सिर्फ कायिक १९क वाचिक व मानसिक विजय की ओर आगे बढना।

के लिये समाज के तो मानव जाति के हितो के लिये राष्ट्रीय हितों का वलिदान करने को भी वह तैयार रहे। अपने-अपने स्तर पर चरित्र-रक्षा का यही क्रम होना चाहिये। किसी भी स्तर पर चरित्र सम्बन्धी कलक लगाने वाली हरकतों से तो समता साधक को वचना ही होगा।

सूत्र ७वाँ : अधिकारों का सदुपयोग

प्राप्त-अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना तथा उनका व्यापक जन-कल्याणार्थ सर्वत्र सदुपयोग करना।

समाज या राष्ट्र मे अपनी योग्यता, प्रतिष्ठा आदि के वल पर कई व्यक्ति छोटे या वडे पदों पर पहुचते हैं जहाँ उनके हाथ मे तदनुसार अधिकारो का वर्चस्व आता है। समता-साधक का कर्त्तव्य होगा कि वह ऐसी स्थिति मे उन प्राप्त अधिकारो का कतई दुरुपयोग न करे। यहाँ दुरुपयोग या सदुपयोग का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। जो प्राप्त सार्वजनिक अधिकारों का अपने या अपने लोगो के स्वार्थो की पूर्ति हेतु उपयोग करता है—वह उनका दुरुपयोग कहलायगा। उन्ही अधिकारों के सदुपयोग का अर्थ होगा कि उनका उपयोग सर्वत्र व्यापक जन-कल्याण मे किया जाय।

सूत्र ८वाँ : अनासक्त-भाव

सत्ता या अधिकार प्राप्ति के समय उनके अन्धाधुन्ध प्रयोग की अपेक्षा तज्जन्य कर्त्तव्य-पालन के प्रति विशेष जागरूक रहना तथा प्राप्त सत्ता मे आसक्त-भाव नहीं आने देना।

समता साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह सम्पत्ति की ही तरह सत्ता मे भी मूर्छा भाव याने ममत्व दृष्टि पैदा न करे। जहाँ यह हुआ, वहाँ सत्ता का दुरुपयोग अनिवार्य है। किन्तु यदि अनासक्त

भाव से सत्ता का प्रयोग किया जाय तो मनुष्य को पागल वना देनेवाली सत्ता को भी समाज-राष्ट्र की सच्ची सेवा का शुद्ध साधन वनाया जा सकेगा।

सूत्र ९वाँ : सत्ता और सम्पत्ति साध्य नहीं

सत्ता और सम्पत्ति को मानव सेवा का साधन मानना, न कि व्यक्ति जीवन का साध्य।

सत्ता और सम्पत्ति की शक्तियाँ समता साधक के हाथो मे मानव-सेवा की साधनरूप वनी रहनी चाहिये किन्तु जहाँ व्यक्ति ने सत्ता और सम्पत्ति को अपने जीवन के साध्य रूप मे धार लिया और तदनुसार आचरण आरम्भ कर दिया तो समझ लीजिये कि उसने अपने आपको विषमता के नरककुण्ड मे पटक दिया है। सत्ता और सम्पत्ति यदि व्यक्ति के जीवन के साध्य नहीं रहे तथा सामाजिक सेवा के साधन रूप वन जाए तो समाज में इनके स्वस्थ वितरण की समस्या का भी सरल समाधान निकल आयगा। समता साधक को ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने की दिशा मे आगे वढना होगा।

सूत्र १०वाँ : सादगी और सरलता

सादगी, सरलता एव विनम्रता मे विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यों की रचना मे सक्रिय वने रहना।

क्रान्ति न हठ है, न दुराग्रह है और न रक्तपात है। नये सामाजिक मूल्यों को रचना का नाम क्रान्ति है जिसका क्रम सदा चलता रहना चाहिये ताकि मूल्यों मे विकारों का प्रवेश ही न हो सके। किन्तु समता-साधक जब क्रान्ति का बोडा उठाता है तो उसमे सादगी, सरलता एव विनम्रता की मात्रा भी बढ जाती है। जितनी अधिक साधना,

उतनी ही अधिक सरलता। अधिक सम्पन्नता, अधिक सादगी और अधिक विशिष्ट विकास तो अधिक विनम्रता—यह समता साधक का धर्म होना चाहिये।

सूत्र ११वां : स्वाध्याय और चिन्तन

चरित्र निर्माण की धारा मे चलते हुए धार्मिक एव नैतिक शिक्षण पर बल देना तथा प्रतिदिन एक निर्धारित समय मे स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन का क्रम नियमित बनाये रखना।

मनुष्य हर समय किसी न किसी कार्य मे प्रवृत्त बना रहता ही है, किन्तु उसे यह देखने की फुरसत नही होती कि उसकी प्रवृत्ति उचित है अथवा अनुचित—अपनी ही स्वार्थ वासना को लिये हुए है अथवा व्यापक जन-कल्याण कामना को लिये हुए। इसकी जांच परख तभी हो सकती है जब स्वस्थ एव नैतिक सस्कार-निर्माण के साथ स्वाध्याय का नित-प्रति क्रम बने। स्वाध्याय के प्रकाश मे अपने नित-प्रति के कार्यो की एक कसौटी तैयार होगी और उसके बाद जब चिन्तन मनन का नियमित क्रम बनेगा तो फिर समूचे कार्यो की गति उन्नायक दिशा की ओर ही मुड जायगी।

इस प्रकार ये २१ सूत्र समता-साधक को समूचे रूप मे एक दिशा निर्देश देते हैं कि वह अपने जीवन को व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन की समता हेतु समर्पित कर दे।

सूत्र १२वाँ : कुरीतियों का त्याग

सामाजिक कुरीतियो का त्याग करना तथा उनमे भी दहेज प्रथा को सख्ती से समाप्त करना।

जिस समाज मे रूढ परम्पराओ एव कुरीतियों का निर्वाह होता है, वह कभी भी जागृत समाज नहीं कहला सकता। कुरीतियों पर अन्धे

वनकर चलते रहने से सद्गुणो एव श्रेष्ठ वर्ग का ह्रास होता जाता है। वर्तमान समाज मे जिस कदर कुरीतियाँ चल रही है, वे मानवता विरोधी वन गई है। दहेज प्रथा को ही लें तो यह कितनी निकृष्ट है कि लडके वेचे जाते हैं और उस पर गरूर किया जाता है। एक समता साधक को स्वय को तो ऐसी सारी कुरीतियों से मुक्ति लेनी ही होगी वल्कि उनको नष्ट करने के लिये उसे समाज के क्षेत्र मे कडा सघर्ष भी छेडना होगा। समतामय स्थिति का निर्माण इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि कितनी मजवूती से और कितनी जल्दी समाज को ऐसी कुरीतियो से मुक्त करके वहाँ मानवता-प्रसारिणी रीतियो का शुभारम्भ किया जाता है ?

सूत्र १३वॉ : व्यापार सीधा और सच्चा

वस्तु मे मिलावट करके, कम ज्यादा तोल या माप कर अथवा किसी भी अन्य प्रकार से धोखेपूर्वक नहीं वेचना तथा मायावी व्यापार से दूर रहना।

आज जिसे उलझा हुआ आर्थिक जाल कहा जाता है और अर्थ शोषण से राजनीति-दोहन तक का जो चक्र चलता है, उसे कुटिल व्यापार प्रणाली की ही तो देन समझना चाहिये। व्यापार सीधा और सच्चा रहे तवतक तो वह समाज की सेवा का साधक वना रहेगा, किन्तु ज्योंही उसे लोभ के दृष्टिकोण पर आधारित कर लिया जायगा तो वहीं भ्रष्टाचार एव अत्याचार का कारण वन जायगा। वर्तमान विश्व मे आर्थिक साम्राज्यवाद का जो जटिल नागपाश दिखाई देता है, वह शुरू व्यापार की मिलावट, धोखाधडी और झूठवाजी से ही होता है अतः समता-साधक का व्यापार सीधा और सच्चा वने—यह जरूरी है।

सूत्र १४वाँ धन-धान्य का समवितरण

व्यक्ति, समाज व राष्ट्र आदि की जिम्मेदारी के आवश्यक अनुपात के अतिरिक्त धन धान्य पर निजी अधिकार नहीं रखना। अपने पास

भी उचित आवश्यकता से अधिक धन-धान्य हो तो उसे ट्रस्ट रूप मे करके यथावश्यक सम्यक् वितरण मे लगा देना।

जो मन से लेकर मनुष्य के कर्म तक विषमता का विष फैलाता है वह परिग्रह और उससे भी ऊपर परिग्रह की लालसा होती है। इस कारण समता साधक को परिग्रह के ममत्व से दूर रहना होगा। एक ओर वह आवश्यकता से अधिक धन्य-धान्य एव अन्य पदार्थो का सग्रह, न करे तो दूसरी ओर सम्पत्ति आदि भोग्य पदार्थो की न्यूनतम मर्यादाएँ भी ग्रहण करे। धन-धान्य आदि पदार्थों के सम-वितरण की समाज मे जितनी सशक्त परिपाटी जितनी जल्दी कायम की जा सकेगी, उतनी ही श्रेष्ठता के साथ समता का भावनात्मक एव क्रियात्मक प्रसार सभव हो सकेगा।

सूत्र १५वाँ : नैतिकता से आध्यात्मिकता

नैतिक धरातल की पुष्टता के साथ सुघड आध्यात्मिक जीवन के निर्माणार्थ तदनुरूप सद्प्रवृत्तियों का अनुपालन करना।

समता साधक गृहस्थ धर्म मे रहकर पहले नैतिक धरातल को पुष्ट बनावे और उस पुष्टि के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रवेश करे ताकि वहाँ पर प्राभाविक रूप से नया वातावरण बना सके। यदि अपनी अर्जन प्रणाली, दिनचर्या या व्यवहार परिपाटी मे नैतिकता नही समाई तो भला वहा आध्यात्मिकता का विकास कैसे किया जा सकेगा?

सूत्र १६वाँ : सुधार का अहिंसक प्रयोग

सयम की उत्तम मर्यादाओं एव किसी भी प्रकार के अनुशासन को भग करने वाले लोगो को अहिंसक असहयोग के उपाय से सुधारना, किन्तु द्वेष की भावना न लाना।

समता साधक अहिंसा को ऐसे सशक्त अस्त्र के रूप मे तैयार करे एव प्रयोग मे लावे कि द्वेष तथा प्रतिशोध रहित होकर सर्वत्र सुधार के कार्यक्रम चलाये जा सकें। गांधी जी कहा करते थे कि वे भारत मे अग्रेजी राज के विरुद्ध हैं, अग्रेजों के विरुद्ध नहीं और इसे वे अहिंसा की भावना बताते थे। वह भावना सही थी। "घृणा पाप से हो—पापी से कभी नहीं लवलेश"—यह अहिंसा की सीख होती है। व्यक्ति से कैसी घृणा—उससे द्वेष क्यों? अहिंसात्मक असहयोग के जरिये व्यक्ति क्या—समूह का सुधार भी सभव हो सकता है।

सूत्र १७वाँ : गुण-कर्म से वर्गीकरण

मानव जाति मे गुण एव कर्म के अनुसार वर्गीकरण मे विश्वास रखते हुए किसी भी व्यक्ति से घृणा या द्वेष नहीं रखना।

किसी जाति या घर मे जन्म ले लेने मात्र से ही कोई उच्च वर्ण का कहलाए तो कोई शूद्र—इसे मानवीय व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। जाति प्रथा एक रूढ प्रथा है। मानव समाज मे जब समता के आदर्श को लेकर चलना है तो समाज का वर्गीकरण रूढ प्रथाओं को आधार बनाकर नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के अर्जित गुणों एव कार्यों की ऊँच-नीचता की नींव पर जो वर्गीकरण खडा किया जायगा, वही वास्तव मे मानवीय समता को एक ओर पुष्ट करेगा तो दूसरी ओर सद्‌गुणों एव सत्कर्मो को प्रेरित भी करेगा। समता-साधक की इस कारण मानव-जाति मे गुण एव कर्म के वर्गीकरण किये जाने मे न सिर्फ दृढ आस्था ही होनी चाहिये, बल्कि ऐसे वर्गीकरण के लिये उसके समस्त प्रयास नियोजित होने चाहिये। ऐसे वर्गीकरण मे व्यक्ति-व्यक्ति के साथ घृणा करे या द्वेष रखे—इसकी गुजायश ही कम हो जायगी।

सूत्र १८वाँ : भावात्मक एकता

सम्पूर्ण मानव जाति की एकता के आदर्श को समक्ष रखते हुए समाज एव राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल देना तथा ऐसी एकता के लिये उत्कृष्ट चरित्र का निर्माण करना।

एकता का अर्थ शक्ति होता है। मन, वचन एव कर्म की एकता हो तो मनुष्य की मनुष्यता सशक्त बन जाती है। उसी तरह समाज और राष्ट्र मे व्यक्तियो की परस्पर एकता की अनुभूति सजग बन जाय तो वह सम्पन्न एवं चारित्र्यशील समाज व राष्ट्र का निर्माण करती है।

यह एकता केवल बाह्य रूपो मे ही नही अटक जानी चाहिये बल्कि अनुभावो की एकता के रूप मे विकसित होनी चाहिये। समता-साधक को अपने अन्तर मे हो या समाज-राष्ट्र के अन्तर मे—भावात्मक एकता स्थापित करने के प्रयास करने चाहिये। क्योंकि भावात्मक एकता चिरस्थायी एव शान्ति-प्रदायक होती है तथा समता को पुष्ट बनाती है।

१९वाँ : जनतत्र वास्तविक बने

राज्य की जनतन्त्रीय प्रणाली का दुरुपयोग नही करना तथा जनशक्ति के उत्थान के साथ इसे वास्तविक एव सार्थक बनाना।

जनतन्त्र केवल एक राज्य प्रणाली नहीं है, अपितु एक जीवन-प्रणाली है। जीवन की मूल आवश्यकताओं की उपलब्धि के साथ प्रत्येक नागरिक विभिन्न स्वतन्त्रताओ का समत उपभोग कर सके तथा अपने जीवन-विकास की स्वस्थ दिशाओ को खोज सके—यह जनतन्त्रीय प्रणाली की विशेपता है। किन्तु सम्पन्न वर्ग अपने स्वार्थों के कारण ऐसी सर्वहितकारी प्रणाली का भी दुरुपयोग करने लग जाता है एव उसे भ्रष्ट तथा विकृत बना देता है। तो समता-साधक का कर्तव्य माना जाना चाहिये कि वह समाज मे ऐसी प्रवृत्तियों का विरोध करे तथा उन्हे दूर करे जो जनतन्त्र का दुरुपयोग करने की कुचेष्टाएँ करती है।

सूत्र २०वाँ : ग्राम से विश्वधर्म

प्रत्येक समता साधक ग्रामधर्म, नगरधर्म, समाजधर्म, राष्ट्रधर्म, एव विश्वधर्म की सुव्यवस्था के प्रति सतर्क रहे, तदन्तर्गत अपने कर्त्तव्यों को निवाहे तथा तत्सम्बन्धी नैतिक नियमों का पालन करे। इन धर्मों के सुचारु सचालन मे कोई दुर्व्यवस्था पैदा नहीं करे तथा दुर्व्यवस्था पैदा करने या फैलाने वालो का किसी भी रूप मे कोई सहयोग नहीं करे।

यहाँ धर्म से कर्त्तव्य का वोध लिया जाना चाहिये। ग्राम, नगर, राष्ट्र, विश्व आदि के प्रत्येक मनुष्य के अपनी-अपनी परिस्थितियो के अनुसार विभिन्न कर्त्तव्य होते है और उसकी सामाजिकता के अनुभाव की सार्थकता यही होगी कि वह इन सभी विभिन्न समूहों के हितों के साथ अपने हितो का सुन्दर तालमेल विठावे तथा जव भी आवश्यकता पडे—वह स्वहित की यथास्थान वलि देकर भी सामूहिक हितों की रक्षा करे। इन सभी कर्त्तव्यों का आधारगत सार यही होगा।

सूत्र २१ वाँ : समता पर आधारित समाज

समता के दार्शनिक एव व्यवहारिक पहलुओं के आधार पर नये समाज की रचना एव व्यवस्था मे विश्वास रखना।

जहाँ कहीं साध्य या उद्देश्य की बात हो, वहाँ पूर्ण सतर्कता आवश्यक है। साध्य यह है कि जिस नये समाज की कल्पना है, उसका आधार पूर्णतया समता पर आधारित होना चाहिये। एक समता-साधक का इस दृष्टि मे पूरा विश्वास भी होना चाहिये तथा पूरा पुरुषार्थ भी कि वह विषमताओं को हटाने के काम को अपना पहला काम समझे तथा प्रत्येक व्यक्ति, सगठन या समूह को स्वस्थ समता का आधार प्रदान करे।

आचरण की आराधना के तीन चरण

साधुत्व से पूर्व स्थिति मे समता-साधक की साधना के तीन चरणो या सोपानों का इस हेतु निर्धारण किया जा रहा है जिससे स्वय साधक को प्रतीति हो तथा समाज मे उसकी पहिचान हो कि समता की साधना मे वह किस स्तर पर चल रहा है ? इस प्रतीति और पहिचान से साधक के मन मे उन्नति की आकांक्षा तीव्र बनी रहेगी।

उपरोक्त तीन चरण निम्न है—

१. समतावादी
२ समताधारी
३. समतादर्शी।

समतावादी की पहली श्रेणी

पहली एव प्रारम्भिक श्रेणी उन समता—साधको की हो, जो समता दर्शन मे गहरी आस्था, नया खोजने की जिज्ञासा एव अपनी परिस्थितियो की सुविधा से समता के व्यवहार मे सचेष्ट होने की इच्छा रखते हो। पहली श्रेणीवालो को वादी इस कारण कहा है कि वे समता के दर्शन एव व्यवहार पक्षों का सर्वत्र समर्थन करते हों एव सबके समक्ष २१ सूत्रो एव ३ चरणो की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हो। स्वय भी आचरण की दिशा मे आगे बढ़ने के सकल्प की तैयारी कर रहे हों और किन्हीं अशो मे आचरण का श्रीगणेश कर चुके हो। ऐसे साधको का नाम समतावादी रखा जाय, जिनके लिये निम्न प्रारम्भिक नियम आचरणीय हो सकते हैं—

(१) विश्व मे रहने वाले समस्त प्राणियो मे समता की मूल स्थिति को स्वीकार करना एव गुण तथा कर्म के अनुसार ही उनका वर्गीकरण मानना। अन्य सभी विभेदो को अस्वीकार करना और गुण-कर्म के क स से व्यापक समतापूर्ण स्थिति बनाने का सकल्प लेना।

(२) समस्त प्राणीवर्ग का स्वतत्र अस्तित्व स्वीकारना तथा अन्य प्राणों के कष्टक्लेश को स्व-कष्ट मानना।

(३) पद को महत्त्व देने के स्थान पर सदा कर्तव्यो को महत्त्व देने की प्रतिज्ञा करना।

(४) सप्त कुव्यसनों को धीरे-धीरे ही सही पर त्यागते रहने की दिशा मे आगे बढना।

(५) प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घटा नियमित रूप से समता-दर्शन की स्वाध्याय, चिन्तन एव समालोचना मे व्यतीत करना।

(६) कदापि आत्मघात न करने एव प्राणिघात की रक्षा करने का सकल्प लेना।

(७) सामाजिक कुरीतियों को त्याग कर विषमताजन्य वातावरण को मिटाना तथा समतामयी नई परम्पराएँ ढालना।

सक्रिय सो समताधारी

समता के दार्शनिक एव व्यवहारिक धरातल पर जो दृढ चरणों से चलना शुरू कर दें, उन्हे समताधारी की दूसरी उन्चतर श्रेणी मे लिया जाय। समताधारी दर्शन के चारों सोपानो को हृदयगम करके २१ सूत्रों पर व्यवहार करने मे सक्रिय बन जाता है। एक प्रकार से समतामय आचरण की सर्वाङ्गीणता एव सम्पूर्णता की ओर जब साधक गति करने लगे तो उसे समताधारी कहा जाय।

समताधारी निम्न अग्रगामी नियमों का अनुपालन करे—

(१) विषमताजन्य अपने विचारों, सस्कारों एव आचारों को समझना तथा विवेकपूर्वक उन्हे दूर करना। अपने आचरण से किसी को भी क्लेश न पहुचाना व सबसे सहानुभूति रखना।

(२) द्रव्य, सम्पत्ति तथा सत्ता-प्रधान व्यवस्था के स्थान पर समतापूर्ण चेतना एव कर्त्तव्यनिष्ठा को मुख्यता देना।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह एव अनेकान्तवाद के स्थूल नियमो का पालन करना, उनकी मर्यादाओं मे उच्चता प्राप्त करना एव भावना की सूक्ष्मता तक पैठने का विचारपूर्वक प्रयास करते रहना।

(४) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के समवितरण मे आस्था रखना तथा व्यक्तिगत रूप से इन पदार्थो का यथाविकास, यथायोग्य जन-कल्याणार्थ अपने पास से परित्याग करना।

(५) परिवार की सदस्यता से लेकर ग्राम, नगर, राष्ट्र एव विश्व की सदस्यता को निष्ठापूर्वक आत्मीय दृष्टि एव सहयोगपूर्ण आचरण से अपने उत्तरदायित्वों के साथ निभाना।

(६) जीवन मे जिस किसी पद पर या कार्यक्षेत्र मे रत हों उसमे भ्रष्टाचरण से मुक्त होकर समताभरी नैतिकता एव प्रामाणिकता के साथ कुशलता से कार्य करना।

(७) स्व-जीवन मे सयम को तो सामाजिक जीवन मे सर्वदा नियम को प्राथमिकता देना एवं सानुशासन बनना।

साधक की सर्वोच्च सीढ़ी—समतादर्शी

समतादर्शी की श्रेणी मे साधक का प्रवेश तब माना जाय जब वह समता के लिये बोलने और धारने से आगे बढ कर ससार को समतापूर्ण बनाने व देखने की दृष्टि और कृति प्राप्त करता है। तब वह साधक व्यक्ति के व्यक्तित्व से ऊपर उठकर एक समाज और सस्था का रूप ले लेता हैं क्योंकि तब उसका लक्ष्य परिवर्तित निजत्व को व्यापक परिवर्तन मे समाहित कर लेना बन जाता है। ऐसा साधक साधुत्व के सन्निकट पहुच जाता है, जहाँ वह अपने स्वहित को भी परहित मे विलीन कर देता है एव सारे समाज मे सर्वत्र समता लाने के लिये जूझने लग जाता है। वह समता का वाहन बनने की बजाय तब समता का वाहक बन जाता है।

समतादर्शी निम्न उच्चस्थ नियमों को अपने जीवन मे रमाले—

(१) समस्त प्राणिवर्ग को निजात्मा के तुल्य समझना व आचरना तथा समग्र आत्मीय शक्तियो के विकास मे अपने जीवन के विकास को देखना। अपनी विषमताभरी दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करके आदर्श की स्थापना करना एंव सबमे समतापूर्ण प्रवृत्तियों के विकास को बल देना।

(२) आत्मविश्वास की मात्रा को इतनी सशक्त बना लेना कि विश्वासघात न अन्य प्राणियो के साथ और न स्वय के साथ जाने या अनजाने भी सभव हो।

(३) जीवन क्रम के चौबीसों घटो मे समतामय भावना एव आचरण का विवेकपूर्ण अभ्यास एव आलोचन करना।

(४) प्रत्येक प्राणी के प्रति सौहार्द्र, सहानुभूति एव सहयोग रखते हुए दूसरो के सुख दुःख को अपना सुख-दुःख समझना—आत्मवत् सर्व-भूतेषु।

(५) सामाजिक न्याय का लक्ष्य ध्यान मे रखकर चाहे राजनीति के क्षेत्र मे हो अथवा आर्थिक या अन्य क्षेत्र मे आत्मबल के आधार पर अन्याय की शक्तियों से सघर्ष करना तथा समता के समस्त अवरोधों पर विजय प्राप्त करना।

(६) चेतन व जड तत्त्वों के विभेद को समझ कर जड पर से ममता हटाना, जड की सर्वत्र प्रधानता हटाने मे योग देना तथा चेतन को स्वधर्मी मान उसकी विकासपूर्ण समता मे अपने जीवन को नियोजित कर देना।

(७) अपने जीवन मे और बाहर के वातावरण मे राग और द्वेष दोनों को सयमित करते हुए सर्व प्राणियों मे समदर्शिता का अविचल भाव ग्रहण करना, वरण करना तथा अपनी चिन्तन धारा मे उसे स्थायित्व देना। समदर्शिता के जीवन का सार बना लेना।

साधुत्व तक पहुँचाने वाली ये तीन श्रेणियाँ

इन तीनों श्रेणियों मे यदि एक समता-साधक अपना समुचित विकास करता जाय तथा समदर्शी श्रेणी मे अपनी हार्दिकता एव कर्मठता को रमा ले तो उसके लिये यह कहा जा सकता है कि वह साधक भावना की दृष्टि से साधुत्व के सन्निकट पहुच गया है। तीसरी श्रेणी को गृहस्थ-धर्म का सर्वोच्च विकास माना जायगा।

ये जो तीनों श्रेणियों के नियम बताये गये है, इनके अनुरूप एक से दूसरी व दूसरी से तीसरी श्रेणी मे अग्रसर होने की दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपना आचरण विचार एव विवेकपूर्ण पृष्ठभूमि के साथ सन्तुलित एव संयमित करते रहना चाहिये ताकि समता व्यक्ति के मन मे और समाज के जीवन मे चिरस्थायी रूप ग्रहण कर सके। यही आत्म-कल्याण एव विश्वविकास का प्रेरक पाथेय है।

समता-साधना के इस क्रम को व्यवस्थित एव अनुप्रेरक स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से एक समता-समाज की स्थापना की जाय, उसकी सदस्यता हो, सदस्यो के विकास का सम्पूर्ण लेखा-जोखा रखा जाय एव अन्य प्रवृत्तियॉ चलाई जांय—इसके लिये आगामी अध्याय मे एक रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

:१०:

समता समाज की संक्षिप्त रूपरेखा

माँ की ममता का कोई मुकाबिला नहीं, किन्तु बच्चे को उस ममता का अहसास तभी होता है, जब माँ स्नेहपूर्वक बच्चे को स्तन-पान कराती है और मधुर दूध से बच्चे की क्षुधा मिटाती है। किसी भी तत्त्व की आन्तरिकता ही मूल मे महत्त्वपूर्ण होती है किन्तु उसे अधिक प्राभाविक एव अधिक बोधगम्य बनाने हेतु उसके बाह्य स्वरूप की भी रचना करनी होती है। अपनी गभीर आन्तरिकता को लेकर जब बाह्य स्वरूप प्रकट होता है तो वह प्रेरणा का प्रतीक भी बन जाता है।

अन्तर मे जो कुछ श्रेष्ठ है, वह गूढ हो सकता है, किन्तु जबतक उसे सहज रूप मे बाहर प्रकट नहीं करें, उसको विशेषताओं का व्यापक रूप से प्रसार नही हो सकता है। समता-दर्शन के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि यदि इसके भी बाह्य प्रतीक निर्मित किये जाय तो इसके प्रचार प्रसार मे सुविधा होगी। समता-दर्शन का कोई अध्ययन करे तथा उसके व्यवहार पर भी कोई सक्रिय हो किन्तु यदि ऐसे साधको को एक सूत्र मे आबद्ध रहने हेतु किसी सगठन की रचना की जाय तो साधको को यह सुविधा होगी कि वे परस्पर के सम्पर्क से अपनी साधना को अधिक सुगठित एव सुचारु बना सकेंगे और साधारण रूप से सगठित

साधको का सुप्रभाव समूचे समाज पर इस रूप मे पडेगा कि लोग इस दिशा मे अधिकाधिक आकर्षित होने लगेगे।

एक प्रकार से समता के दर्शन एव व्यवहार पक्षों का मूर्त रूप ऐसा समता-समाज होना चाहिये जो समता मार्ग पर सुस्थिर गति से अग्रसर हो और उस आदर्श की ओर सारे ससार को प्रभावित करे।

समता-समाज क्यों ?

सारे मानव समाज को यदि भिन्न भिन्न भागो मे विभाजित करे तो विविध विचारधाराओ, मान्यताओं एव सम्बन्धो पर आधारित कई वर्ग निकल आवेंगे, बल्कि सारे मानव समाज को एकरूप मे विभिन्न समाजों का एक समाज ही कहा जा सकता है। तो ऐसे विभिन्न समाजो मे 'समता-समाज' के नाम से एक ओर समाज की वृद्धि क्यो ?

मानव समाज इतना विशाल समाज है कि एक ही बार मे एक मानव उसे समग्र रूप मे आन्दोलित करना चाहे तो एक कठिनतम कार्य होगा। कार्य एक साथ नही साधा जाता, क्रमबद्धरूप से ही आगे बढते हुए उसे साधना सरल एव सुविधाजनक होता है। सारे ससार मे याने कि सभी विभिन्न क्षेत्रो मे समतामय जीवन की प्रणाली की स्थापना एक साथ सरल नही हो सकती। अपने नवीन परिप्रेक्ष्य मे समता के विचार-बिन्दु को हृदयगम कराना तथा उसके आचरण को जीवन मे उतारना एक क्रमबद्ध कार्यक्रम ही हो सकता है। समता समाज इस क्रमबद्ध कार्यक्रम को सफल बनाते हुए समता के निरन्तर विस्तार का ही एक सगठन कहा जा सकता है। सगठन की शक्ति उसके सदस्यो पर आधारित होती है तथा समता-समाज भी कितना शक्तिशाली बन सकेगा—यह इसके साधक सदस्यो पर निर्भर करेगा।

"समता-समाज" के नाम से कायम होने वाला यह सगठन एक [illegible]न्त सगठन होना चाहिये जो बिना किसी भेद-भाव के सिर्फ मानवीय

धारणाओं को लेकर मात्र मानवता के धरातल पर मानवीय समता की उपलब्धि हेतु कार्य करे एव विभिन्न क्षेत्रो मे विपमताभरे वातावरण को हटा कर समतामय परिस्थितियों के निर्माण मे योग दे।

"समता समाज" का कार्यक्षेत्र

समता-समाज का कार्यक्षेत्र किसी भौगोलिक सीमा मे आबद्ध नही होगा। जहाँ-जहाँ विषमता है और जहाँ-जहाँ समता के साधक खडे होते जायेंगे, वहाँ-वहाँ समता समाज के कार्यक्षेत्र खुलते जायेंगे। प्रारम्भ मे किसी भी एक बिन्दु से इस समाज का कार्यारम्भ किया जा सकता है और फिर उस केन्द्र से ऐसा यत्न किया जाय कि देश मे चारो ओर इस समाज के सदस्य बनाये जाय जो निष्ठापूर्वक चार सोपानों, इक्कीस सूत्रों एव तीन चरणो मे आस्था रखें तथा व्यवहारिक रूप से अपने जीवन मे समता-तत्व को यथाशक्ति समाहित करें। यदि प्रारभिक प्रयास सफल बनें तथा देश मे समता-समाज का स्वागत हो और समता समाज के सदस्य चाहे तो कोई कठिन नही कि इस अभियान को विदेशों मे भी लोकप्रिय बनाया जाय। समाज के उद्देश्य तो वैसे ही सबको छूने एव सबमे समाने वाले है।

समाज के उन्नायक उद्देश्य

जो अब तक विश्लेषण किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति एव समाज के आन्तरिक एव बाह्य जीवनो मे समता रम जाय एव चिरस्थायी रूप ग्रहण कर ले—यह समता समाज को अभीष्ट है। कहा नहीं जा सकता कि इस अभियान को सफल होने मे कितना समय लग जाय, किन्तु कोई भी अभियान कभी भी सफलता तभी प्राप्त कर सकेगा, जब उसके उद्देश्य स्पष्ट हों एव उनमे व्यापक जन-कल्याण की भावना झलकती हो।

समाज के उन्नायक उद्देश्यो को सक्षेप मे निम्न रूप से गिनाया जा सकता है।

(१) व्यक्तिगत रूप से समता साधक को समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी की श्रेणियो मे साधनारत बनाते हुए अपने व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की ओर अग्रसर बनाना।

(२) मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न क्षेत्रो की विषमताओं से सघर्ष करना एव सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना।

(३) व्यक्ति और समाज के हितो मे ऐसे तालमेल बिठाना जिससे दोनो समतामय स्थिति लाने मे पूरक शक्तियाँ बने—समाज व्यक्ति को धरातल दे तो व्यक्ति उस पर समता सदन का निर्माण करे।

(४) स्वार्थ, परिग्रह की ममता एव वितृष्णा को सर्वत्र घटाने का अभियान छोडकर स्वार्थो एव विचारो के टकराव को रोकना तथा सामाजिक न्याय एव सत्य को सर्वोपरि रखना।

(५) स्थान-स्थान पर समता-साधको को सगठित करके समाज की शाखा उपशाखाओं की स्थापना करना साधारण जन को समता का महत्त्व समझाने हेतु विविध सयत प्रवृत्तियों का सचालन करना एव सम्पूर्ण समतामय परिवर्तन के लिये सचेष्ट रहना।

समता-समाज किनका ?

किसी देश-प्रदेश, जाति-सम्प्रदाय, वर्ण-वर्ग या दल विशेष का यह समाज नही होगा। प्रारम्भ मे समाज का आकार छोटा हो सकता है किन्तु इसका प्रकार कभी छोटा नही होगा। जो अपने आपको सीधे और सच्चे रूप मे मनुष्य नाम से जानता है और मनुष्यता के सर्वोपरि विकास मे रुचि रखता है, वह इस समाज का सदस्य बन सकता है। समता-समाज सम्पूर्ण मानव जाति का समाज होगा और इसकी सदस्यता का मूल आधार गुण और कर्म होगा क्योकि इसकी साधना श्रेणियो का निर्माण भी गुण एव कर्म के आधार से ही बनाया गया है।

दूसरे शब्दो मे यों कहे कि समता-समाज उन लोगों का सगठन होगा जो समाज के उद्देश्यो मे विश्वास रखते होंगे, इसके २१ सूत्रो तथा ३ चरणों को अपनाने के लिये आतुर होंगे एव अपने प्रत्येक आचरण मे समता के आदर्श की झलक दिखायेंगे। समाज अपने सदस्यो को कर्मठता का केन्द्र होगा तो अन्य सभी के लिये प्रेरणा का स्रोत भी, क्योंकि अन्ततोगत्वा तो समाज का लक्ष्य राजनीतिक, आर्थिक एव अन्य सभी क्षेत्रों मे मानवीय समता स्थापित करके आध्मात्मिक क्षेत्र मे समता के महान् आदर्श को प्रकाशमान बनाना है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि समता समाज २१ सूत्रों के पालक एव ३ चरणों मे साधनारत साधकों का सगठन होगा जो गृहस्थ धर्म मे रहते हुए भी उज्ज्वल नक्षत्रो के रूप मे ससार के विविध क्षेत्रो मे समता के सुखद सन्देश को न केवल फैलावेंगे बल्कि उसे कार्यान्वित कराने के काम मे सर्वदा एव सर्वत्र निरत रहेंगे।

समाज की सदस्यता कैसे मिले ?

समता-समाज की सयोजक स्थापना के बाद सदस्यता का अभियान आरभ किया जाय किन्तु यह अभियान सस्ता और सख्यामूलक नहीं होना चाहिये। कुछ निष्ठावान् सस्थापक लोग साधारण रूप से समाज के उद्देश्यों को समझावें, भावनात्मक दृष्टि से सदस्यता चाहनेवाले की जाच परख करें तथा उसकी सकल्प-शक्ति को जानकर उसे सदस्यता प्रदान करें। विवेक, विश्वास और विराग सदस्यता के आधार-बिन्दु बनने चाहिये।

सदस्यता-प्राप्ति का एक आवेदन पत्र तैयार किया जाय, जिसमे समता क्षेत्र मे कार्य करने की उसकी वर्तमान आकांक्षा एव भविष्य के सकल्पों का स्पष्ट अकन हो। वह अपनी आकांक्षा एव सकल्पों का प्रकटीकरण समता के दार्शनिक एव व्यवहारिक पक्षों की जानकरी के अनुसार ही करेगा। उसे यह भी सकेत देना होगा कि समता के क्षेत्र मे

अपनी निजी साधना के सिवाय सार्वजनिक साधना मे कितना समय, श्रम अथवा अन्य प्रकार से सहयोग देगा ?

समाज की सदस्यता का आवेदन पत्र इस प्रारूप के अनुसार हो सकता है।

मैं .... (नाम) ....

(पिता का नाम) .... (निवासी) ....

(वर्तमान निवास यदि हो) ...... (आयु) ....

(व्यवसाय) .... (वर्तमान जाति, गौत्र जिसका भविष्य मे समता समाज की कार्यवाही मे व्यवहार नही किया जायगा)

समता-समाज की सदस्यता प्राप्त करने हेतु आवेदन कर रहा हूं।

मैंने समता समाज के उद्देश्यों, सूत्रो, चरणो एव नियमों तथा साधना-श्रेणियो की पूरी जानकारो करली है। मैं अभी निम्न सूत्रों के अनुपालन मे रत हू/इच्छुक हूँ—

१ ....

२ ....

३ ...... आदि।

अतः मुझे ...... श्रेणी मे प्रवेश दिया जाय। मैं अपनी अनुपालना की नियमित रिपोर्ट केन्द्र को भेजता रहूँगा एव समाज द्वारा निर्देशित अभियानो मे सक्रिय भाग लूँगा।

"मैं वर्तमान मे अपनी ओर से समाज को ... घण्टे प्रतिदिन/ ... दिन वार्षिक, ... अन्य .... सेवा समर्पित करता हूं।

"समता समाज के सदस्य बनाने सम्बन्धी निर्णय एव अन्य निर्देशो से सूचित करें।

दिनाक ....

(हस्ताक्षर)

ऐसे आवेदन-पत्र की तथ्यात्मक रूप से जाच की जाय, स्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्तियो से एव स्वय आवेदक से विशेष चर्चा की जाय तथा साधक की निष्टा से प्रभावित होकर उसे समाज की सदस्यता प्रदान की जाय। केन्द्र एव स्थानीय शाखाओं का यह कार्य होगा कि वे अपने प्रत्येक सदस्य के कार्य-कलापो तथा साधना की क्रमोन्नति का पूरा लेखा-जोखा रखें, उसका समय-समय पर विचार-विमर्श करें ताकि वह अन्य आकाक्षियों के लिये प्रेरणा का कारण बन सके।

समाज का सुगठित सचालन

समाज के सुगठित सचालन हेतु दिये गये सूत्रों, उद्देश्यों आदि के अनुसार एक विधान बनाया जाना चाहिये, जिसके अन्तर्गत विविध कार्य-कलापो, पदाधिकारियों के चयन एव कार्य-निर्वहन आदि की सुचारु व्यवस्था हो। समाज के केन्द्र-स्थान से शाखाओं-उपशाखाओ के खोलने व चलाने पर पूरा नियत्रण हो तथा नीचे से सुझाव आमत्रित करके समाज के विभिन्न कार्यक्रम एव योजनाएँ निर्धारित करने का क्रम बने। सदस्यो, पदाधिकारियों, समितियो एव शाखाओ का ऐसा तालमेल बिठाया जाय कि समाज का सचालन सभी प्रकार से सुगठित बन सके।

सुगठित सचालन एव कार्यक्रमो को सार्थक दिशा देने की दृष्टि से एक परामर्शदातृ मडल का निर्माण भी किया जा सकता है, जिसमे समता व्यवस्था मे आस्था रखनेवाले उच्च कोटि के साधकों को सम्मिलित किया जाय। इसमे सन्त-मुनियों का सहयोग भी प्राप्त किया जा सकता है। यह मडल नीति-निर्धारण एव दिशा-निर्देशन के रूप मे ही कार्य करे।

गृहस्थ इस समाज के आदि सचालक

समता समाज के निर्माण एव सचालन का प्रधान कार्य गृहस्थों के अधीन ही रहे, क्योंकि समता के प्रसार का मुख्य कार्य-क्षेत्र भी तो मूल

रूप मे सासारिक क्षेत्र ही होगा। सांसारिक जीवन की विषमताओं से ही समाज को पहला मोर्चा साधना होगा, जहॉ यदि समाज को सफलता मिलती है एव व्यक्तियो के नैतिक चरित्र को वह उत्थानगामी बना सकता है तो उसका कार्यक्षेत्र तदनन्तर आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी बढ सकता है और वैसी स्थिति मे सचालन की व्यवस्था मे भी परिवर्तन हो सकता है। किन्तु वर्तमान मे समाज के सचालन का पूरा भार गृहस्थों पर रहे तथा ज्यो ज्यों साधक सदस्यों की सख्या बढती जाय, उनकी इच्छा के अनुसार ही निर्वाचन या चयन से समाज के पदाधिकारी प्रतिष्ठित हों। पदाधिकारियो मे विशेप निष्ठा का सद्भाव आवश्यक समझा जाय।

समाज की सक्रिय सदस्यता के नाते जो गृहस्थ आगे आवेंगे, आशा की जाय कि उनमे से भावी साधुओ को दीक्षा हो सके। समदर्शी की तीसरी श्रेणी मे यदि साधक अपने मन और कर्म से निरत हो जाता है तो वास्तव मे साधुत्व उससे फिर अधिक दूर नही रहेगा। स्वहित की आरभिक सज्ञा के ढलान के सम्बन्ध मे जो कहा गया था कि वह उपयुक्त वातावरण पर निर्भर करता है तो समता-साधक और साधु मे यह अन्तर रहेगा कि समता साधक स्वहित और परहित के सन्तुलन मे सध जायगा, जहॉ कि साधु साधुत्व मे रहता हुआ परहित हेतु स्वहित को भी विसर्जित कर देता है। यह समाज एक प्रकार से गृहस्थो का प्रशिक्षण केन्द्र हो जायगा, जहॉ वे सकुचित स्वार्थो से ऊपर उठकर व्यापक जन-कल्याणार्थ काम करने का अपना मानस एव पुरुषार्थ बना सकेंगे।

समाज के प्रति साधुओं का रूख

समाज की प्रवृत्तियों के दो पक्ष होंगे। पहला पक्ष सिद्धान्तो, नीतियों एव सयत कार्य-प्रणालियो से सम्बन्धित होगा तो दूसरा पक्ष सचालन विधि, वित्त एव हिसाबकिताब से सम्बन्धित होगा। दूसरे पक्ष का पूरा-पूरा सम्बन्ध गृहस्थों से रहेगा तथा साधुओं को उधर देखने की भी आवश्यकता नही।

किन्तु जहाँ तक पहले पक्ष का सम्बन्ध है, यह गृहस्थों से भी अधिक साधुओं की जिम्मेदारी मानी जानी चाहिये कि वे समाज के इस मूलाधार पक्ष को कही भी समता-दर्शन की मर्यादाओ से बाहर न भटकने दें। सिद्धान्त और नीति सम्बन्धी निर्देशन तो उन्हीं को देना है तथा अपने उपदेशो से वे लोगों को इन समता-सिद्धान्तों तथा नीतियो के प्रति प्रभावित करें—यह सर्वथा समीचीन होगा। साधु वर्ग अपनी निजी मर्यादाओं का निर्वहन करते हुए इस समाज को अपना अधिकाधिक योग दें तो उससे समाज की कार्य-दिशा भी स्वस्थ रहेगी तो दूसरी ओर समाज की आम लोगों मे प्रभावपूर्ण प्रतिष्ठा भी बनेगी।

समाज के विस्तार की योजना

एक बार अपने निर्माण के बाद समाज एक स्वस्थ सगठन के रूप मे कार्य करने लगे और उसमे प्राप्त सफलताओ के आधार पर इसके विस्तार की आवश्यकता अनुभव हो तब किसी प्रकार की अन्धरूढता से काम नहीं लिया जाना चाहिये। समाज का विधान भी पर्याप्त लचीला होना चाहिये ताकि विस्तार की प्रत्येक योग्य सभावना का उसमे समावेश किया जा सके।

जब भी समाज के विस्तार की योजना बनाई जाय तो वह अनुभवी साधकों तथा निर्देशक साधुओं की यथायोग्य सम्मत्ति के आधार पर ही बने ताकि उसका विस्तार कहीं विषमता की घाटियों मे भटक न जाय। समता की साधना का भाव समाज के किसी भी कार्यक्रम, अभियान और विस्तार मे भी ओझल नहीं होना चाहिये।

समाज दीपक का कार्य करे

जहाँ-जहाँ समाज की शाखाएँ-उपशाखाएँ कायम हों, वे उन क्षेत्रो मे दीपक का कार्य करें। अपने समता आदर्श का न सिर्फ उन्हे पालन

करना होगा बल्कि अपने आदर्श पालन से समूचे वातावरण मे उन्हे ऐसा प्रभाव भी फैलाना होगा कि लोगों की सहज श्रद्धा समाज के प्रति जागृत हो।

दीपक एक ओर स्वय प्रकाश फैलाता है तो साथ ही अपनी प्रकाशमान बाती को अगर दूसरे बुझे हुए दीपक की बाती को छू दे तो वह भी प्रकाशमान बन जाता है। यही कार्य समता-साधको को करना है। अपने ज्ञान और आचरण का प्रकाश तो वे फैलावें ही, किन्तु अपनी विनम्रता एव मृदुता से वे उन सुशुप्त आत्माओं को जगावें जो विवशता-पूर्वक विपमता मे पडी हुई कराह रही हैं और जिन्हे किसी उद्धारक की हार्दिक सहानुभूति की अपेक्षा है। समता के क्षेत्र मे यह सबसे बडी सेवा होगी कि शोषित, पीडित एव दलित वर्गों को उठाने और जगाने का काम पहले हाथ मे लिया जाय।

बाती से बाती छुआकर दीपकों की पांत जलाने की उपमा इस मान-वीय अभियान से की जा सकती है। गिरे हुए और पिछडे हुए वर्गों के के स्वाभिमान को एक बार जगा दिया और उनमे समता की आकाक्षा भर दी जाय तो वे समता के श्रेष्ठ साधको के रूप मे सामने आ सकते है। इस तरह दीपको की पक्तियाँ सब ओर प्रज्वलित कर दी गई तो भला फिर समता की दीपावली जगमग क्यों नही करने लग जायगी ?

यह एकनिष्ठ प्रयास कैसा ?

समता समाज के सगठन के रूप मे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह एकनिष्ठ प्रयास कैसा है और क्यो किया जा रहा है ?

घडी के अन्दर के पुर्जे आप लोगो मे से बहुतसो ने देखे होगे। एक दांतेदार पहिये मे दूसरा दांतेदार पहिया इस तरह जुडा हुआ होता है कि वे आपस मे हिल मिल कर चलते ही नहीं है बल्कि खुद चलकर एक दूसरे को चलाते भी हैं। उनका चलना और चलाना आपस के मेल पर टिका रहता है। कल्पना करें कि एक पहिये की दांते दूसरे पहिये के

दातों के पास रिक्त स्थानो मे फिट होने के बजाय दातो से दातें टकरा बैठें तो क्या उन पहियों का चलना चलाना चालू रह सकेगा ?

घडी के निर्माता कारीगर का एकनिष्ठ प्रयास यह रहता है कि वह पुर्जो को इस कुशलता से फिट करे कि कभी कोई दाता दूसरे दांत से टकरावे नही। उसकी कुशलता का प्रमाण ही यह मानना चाहिये।

इसी तरह समाज के सचालको का एकनिष्ट प्रयास यही होना चाहिये कि सारा सगठन आपस मे हिलमिल कर अपने मूल उद्देश्यों की पूर्ति मे लगा रहे। स्वय सगठन अपने भीतर अथवा बाहर कहीं भी टकराव का प्रदर्शन न बने। जहाँ ऐसी टकरावटें पैदा होती हैं तो मूल लक्ष्य विस्मृत होने लगता है और वैसी अवस्था मे सगठन फिर निष्प्राण ही हो जाता है।

मूल लक्ष्य को पग-पग पर याद रखें

समता समाज के मूल लक्ष्य को यदि कुछ शब्दो मे ही कहना है तो वह इन दो शब्द-समूहो मे व्यक्त किया जा सकता है—

१ समता की दिशा मे व्यक्ति का विकास

२ समाज (मानव समाज) का सुधार।

व्यक्ति और समाज के निरन्तर टकराते रहने का अर्थ है विषमता और जब इन दोनो का तालमेल स्वस्थ रीति से बैठेगा तो दोनों के उत्थान के साथ समता का स्थायी विकास होगा। मुख्यतः व्यक्ति और समाज मे सघर्ष होता है व्यक्ति के अपने स्वार्थों से एव अपने ही लिये सब कुछ पाने एव सचित कर लेनेकी उद्दाम लालसाओ से। समाज के शक्तिशाली वर्ग जब स्वार्थ मे डूब जाते हैं तो वे सामाजिक हितों को ठुकरा देते है। चन्द लोग सत्ता और सम्पत्ति का समूचा वर्चस्व थामकर बहुसख्यक लोगो को अभावों की खाइयों मे छटपटाने के लिये छोड देते हैं। तब सम्पन्न वर्ग अपने अधिकारो की मदमत्तता मे तो अभावग्रस्त वर्ग अपनी दीनता की विवशता मे विषमता के दल-दल मे फस जाता है और इस तरह सारे

समाज मे विषमता की पूजा होने लगती है। जितनी बाहर की विषमता बढती है, भीतर की कटुता भी जागती है जो मनुष्य को भीतर-बाहर से विषमता का पुतला बना देती है।

विषमता के इस कुचक्र से समता-साधक का सदा सतर्क बना रहना होगा और अपने इस संगठन को भी उससे बचाना होगा। यह तभी हो सकता है जब समता-समाज के मूल लक्ष्यो को पग पग पर यदि रखा जाय।

व्यक्ति का विकास और समाज का सुधार

समता समाज वैसा सगठन होना चाहिये जो अपनी दृष्टि मे इन दोनो लक्ष्यो को सदा समान महत्त्व दे और इनके लिये समान रूप से कार्य का विवेक रहे। व्यक्ति और समाज अपनी प्रगति मे परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते है कि यदि कहीं एक पक्ष की उपेक्षा की तो दूसरा पक्ष उससे प्रभावित हुए बिना नही रहेगा। व्यक्ति के विकास को अधिक महत्त्व दिया और उसके सामाजिक पहलू की उपेक्षा की तो यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति विकास की चोटी पर पहुच जाय किन्तु सामान्य जन नैतिकता के सामान्य धरातल से भी नीचे गिरने लगेंगे और उसका साधारण प्रभाव लम्बी दूर मे यह होगा कि व्यक्तियों के उच्चतम विकास का मार्ग भी अवरुद्ध होने लगेगा।

दूसरी ओर यदि सामाजिक सुधार एव प्रगति को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे डाला तो व्यक्ति की स्वाधीनताएं पिसने लगेगी और उस वातावरण मे मशीनें पैदा की जा सकेगी किन्तु स्वतन्त्रचेता व्यक्तियो का अभाव हो जायगा, जिसका दीर्घकालीन प्रभाव यह होगा कि समाज के सचालन मे अधिनायकवादी असर पैदा हो जायगा।

अतः व्यक्ति के विकास एव समाज के सुधारसम्बन्धी कार्यक्रमों मे स्वस्थ सन्तुलन बनाये रखना—यह समता-समाज का कौशल होना चाहिये। न व्यक्ति की स्वाधीनता को आंच आवे और न कुछ व्यक्ति

इतने सक्षम बन जावें कि वे बहुसंख्यक जनता के अधिकारों को कुचलने की हिमाकत कर सकें। दोनों बिन्दुओं में ऐसा सन्तुलन रहे कि व्यक्ति सामाजिक हित-रक्षा में प्रवृत्त हो तो समाज भी प्रत्येक व्यक्ति के प्रति समान सहयोग में जागरूक बना रहे। यह सन्तुलन समाज के सारे सदस्यों की सतर्क दृष्टि एवं स्वस्थ निष्ठा पर निर्भर करेगा जिसका मानस समता-भावना की श्रेणियों में उन्हें बनाना होगा।

समता समाज अलग समाज न बने

अधिकांशतः ऐसा होता है कि कुछ विचारक एवं कार्यकर्त्ता मिल कर सार्वजनिक हित के लिये कोई सगठन खडा करते है और कालान्तर मे उसके कार्य विस्तार मे ऐसी स्थिति बन जाती है कि मानव समाज के विविध सगठनो में वह भी एक संगठन मात्र बन कर अलग थलग रह जाता है। वैसी स्थिति मे उस सगठन की सार्वजनिक उपयोगिता समाप्त हो जाती है। होना यह चाहिये कि जो सगठन व्यापक जन-कल्याण के लिये निर्मित होता है, उसे अपने अलग अस्तित्व की हठ से ऊपर उठ कर हर स्तर पर सामान्य जनता मे अधिक से अधिक सम्मिलित होने का प्रयास करना चाहिये। अपने नियमित विस्तार के प्रति यह दृष्टिकोण बना रहे तो वैसा सगठन लोकप्रिय होकर धीरे-धीरे समूची जनता का सगठन बन जाता है।

समता समाज का प्रारभ भी इसी विस्तृत दृष्टिकोण के साथ होना चाहिये क्योंकि उसका उद्देश्य समूची मानव जाति मे समता स्थापित करना है अतः उसका आधार भी समूची मानव जाति ही रहेगी। आरम्भ छोटे क्षेत्र से हो किन्तु भावी विस्तार व्यापक दिशा मे होना चाहिये एव प्रत्येक समता-साधक "मित्ती मे सव्व भूएसु, वैरं मज्झ न केणई" के आदर्श के साथ समाज में कार्यरत बने। भावना एव कर्म मे समाज के प्रत्येक सदस्य का जब ऐसा दृष्टिकोण हर समय बना तो उसका स्पष्ट परिणाम यह होगा कि सगठन हर कदम

जनहितो से जुडा रहेगा तथा अधिक से अधिक जन समुदाय का समर्थन ममता समाज को मिलता रहेगा। ऐसी अवस्था मे समता समाज अन्ततोगत्वा एक अलग-थलग सगठन वनकर नही रहेगा बल्कि अपनी गहरी जडों से मानव जाति के मध्य विस्तृत रूप से पल्लवित एव पुष्पित होता रहेगा।

गहरी आस्था एवं अमित उत्साह की मांग

किसी भी सगठन का जीवन उसके सदस्यों की गहरी आस्था एव अमित उत्साह पर टिका रहता है और यही किसी भी सगठन को आशातीत प्रगति का रहस्य होता है। अतः समता समाज के निर्माण के समय सगठनो एव सचालकों को इस दृढ निश्चय के साथ कार्यारभ करना चाहिये कि समाज की सदैव गहरी आस्था एव अमित उत्साह की माग वनी रहेगी और उसकी पूर्ति हेतु सदस्यों को सर्वदा सजग एव कार्यरत रहना पडेगा। पूरी स्फूर्ति और उमग से जो सगठन शुरू किये जाते व चलाये जाते हैं, उन्हे सभी ओर से आशीर्वाद, मगल कामनाएँ एव सहज सहयोग प्राप्त होता ही रहता है। समता समाज भी एक जीवन्त सगठन वने और समता के आदर्श पर सोत्साह चलता रहे तो उसमे सद्भावनाओं एव सहयोग का अभाव नही रहेगा।

●

: ११ :

समता-समाज की सफलता के लिये सन्नद्ध हो जाइये !

"कार्य वा साधयामि देह वा पातयामि"—"कुछ करो या मरो"—सफल जीवन के लिये यह एक सचेतक नारा है। मानव जीवन को दुर्लभ जीवन बताया गया है और जो जितना दुर्लभ होगा, निश्चय ही उसे बहुमूल्य भी मानना पडेगा। अब कोई अपने हाथ मे पकडे हुए हीरे को काच के टुकडे के मानिन्द दूर फेंक दे या पत्थर से कूट कर चूर-चूर वनादे तो क्या वह व्यक्ति बुद्धिमान् कहा जा सकेगा ? यह मानव जीवन हीरा है—हीरे की तरह प्रकाश और शोभा फैलाने के लिये है और इसे अगर यों ही अधेरे मे भटका-भटका कर निष्क्रियता की खाई मे डूबो दिया जाय तो यह मूर्खता और महान् हानि दोनो होगी।

जीवन इस कारण कुछ कर गुजरने के लिये है। कर गुजरना वह जो अपने स्वार्थ के लिये नहीं बल्कि ऐसे महान् उद्देश्य के लिये जो निज-पर दोनों की प्रगति को शानदार तरीके से पूरा करनेवाला हो। कर गुजरना ऐसे काम को जो साहस, सयम और श्रेष्ठता का प्रतीक माना जाय। ऐसे कामों मे समता समाज की स्थापना को ऊँचे क्रम पर लिया जा सकता है। स्वय सम वनना और सारे समाज को सम वनाने की दिशा मे सचेष्ट बनाना—इससे वढकर श्रेष्ठ काम और क्या हो सकता है और ऐसे ही काम के सम्बन्ध मे यह नारा होता है कि कुछ करो या

मरो—अर्थात् जीवन की सार्थकता इसीमे है कि ऐसे श्रेष्ठ काम को जितना अपने से बने—कर गुजरो वरना जीवन जीवन नहीं, उसे मृत्यु का ही एक बहाना मानकर चलो।

समता समाज एक आन्दोलन है

आन्दोलन उसे कहते हैं जो नये विचारो से किसी को इस तरह हिला दे कि उसमे एक नई स्फूर्ति एव जागृति उत्पन्न हो जाय। इस समता समाज की स्थापना के कार्यक्रम को भी एक ऐसे आन्दोलन का रूप दीजिये कि यह आज के रूढ एव विषम समाज को जड से हिलादे, जागृति की ऐसी लहर बहादे कि सारे लोग विषमता की स्थितियों को मिटा डालने के लिये अपनी कमर कस ले और निश्चय करले कि वे सारे समाज को सुखदायिनी समता के रग मे रग कर ही चैन लेंगे।

समता-समाज को आन्दोलन इसलिये मानें कि इसके द्वारा सम्पन्नो और अभावग्रस्तों, शोषको और शोषितों, पीडको और पोडितों तथा उच्चस्थों और दलितों—सबकी आखें इस तरह खोली जाय कि जो अपने वर्तमान स्वरूपो मे मानवता की कुसेवा कर रहे है, विषमताके नागपाश मे बधे हुए हैं वे सब समता समाज के आन्दोलन को मन, वचन और कर्म से अपनावें तथा समता के सुख का सच्चा अनुभव ले।

समता समाज के सगठकों एव सचालको को प्रारम्भ से हो इस कार्यक्रम को एक आन्दोलन के रूप मे ही जानना एव मानना चाहिये। कोई भी आन्दोलन तभी चलता और सबल बनता है जब उसे शुरू करने वाले कार्यकर्त्ता स्वय जीवट वाले हो तथा सर्वस्व समर्पण करके भी साध्य को सम्पन्न बनाने का सकल्प लेकर चलने वाले हो। समता समाज की स्थापना का काम कोई छोटा या उपेक्षणीय काम नहीं है, जीवन को लगाने ओर खपाने का काम है। जैसे तपी हुई रेत पर वर्षा की कुछ बूँदें गिरती हैं तो वे पहले विलीन ही हो जाती है। फिर जब लगातार बूँदें गिरती रहती है तब कहीं जाकर उस रेत की तपन मिटती है और

उसमे गोलापन आता है। तो सभी रचनात्मक कार्यक्रमों मे पहली बूदो से आत्मसमर्पण किए बिना कार्यक्रम की सफलता की स्थिति नहीं बनती है। यह समता-समाज भी अपनी सफलता के लिये कई कार्य-कर्त्ताओं के आत्मार्पण की माग करेगा और वह अगर अपने अमित उत्साह एव उमग के बल पर पूरी नहीं की गई तो समता-समाज की सफलता भी कठिन है और समता की सर्वत्र स्थापना भी कठिन। इसलिये इसे एक कर्मठ आह्वान समझिये और समता-समाज की सफलता के लिये सन्नद्ध हो जाइये।

जहाँ विषमता दीखे, जुट जाइये !

अपनी आखों और कानों को निरन्तर खुला रखिये, मन को सारे अवरोधों से मुक्त बना कर चलिये और फिर देखने का प्रयत्न कीजिये कि कहाँ-कहाँ विषमता किन किन रूपों मे जल रही है, जला रही है और फैल रही है ? तब आपकी सुघड दृष्टि मे विषमता के जो घिनौने रूप दिखाई देंगे, वे स्वय आपके कर्म को जगा डालेंगे। विपमता के मानवता सहारक रूपों को देखकर आप स्वय सन्नद्ध हो जायेंगे और किसी भी मूल्य पर समता को स्थापना हेतु कटिबद्ध बन जायेंगे।

ऐसी सजग दृष्टि एकागी नहीं होगी। आप बाहर ही नहीं देखेगें बल्कि बार-बार अपने भीतर भी झाकेंगे और सभी जगह विषमता के कार्य-कलापों को परखेंगे। यही परख आपको भी कसौटी पर कसेगी और समाज की भी पहिचान करेगी। इस दृष्टि मे जहाँ-जहाँ जितने अशों मे या जिस किसी रूप मे विषमता दिखाई दे, वहाँ वहाँ आप जी जान से जुट जाइये कि वहाँ विषमता को नष्ट करके हो आप आगे बढेंगे। एक ही विन्दु पर चाहे समूचा जीवन समाप्त ही जाय किन्तु कर्मण्यता को हार नहीं खानी होगी। यदि ऐसी स्फूर्ति रही तो ऊँचा से ऊँचा परिणाम भी असभव नहीं रहेगा। जीवन के अन्तर-वाह्य मे

समता के पूर्णतः समावेश को ससार की कोई शक्ति प्रतिबाधित नही कर सकेगी।

विषमता से संघर्ष : मन को हर्ष

सधी हुई दृष्टि और कसे हुए काम के साथ ज्यों-ज्यो विषमता से सघर्ष मे गतिशील बना जायगा, त्यों-त्यो निश्चित जानिये कि अन्तर्मन का हर्ष भी प्रगाढ होता रहेगा। निष्क्रिय मन ऐसे हर्ष को नही जानता किन्तु जो सद्विवेक के एक उद्देश्य को लेकर सक्रिय बनता है और अपने पुरुषार्थ से सफलता का सेहरा बाधता है, उस मन के हर्ष की किसी अन्य आनन्द के साथ तुलना करना कठिन है। जब विजयश्री किसी योद्धा के मस्तक को चूमती है, तब उसका हर्ष अद्भुत और अनुपम हर्ष ही होता है।

आपके सामने पग-पग पर विषमताओं के जाले बुने हुए है जिनमे उलझ-उलझ कर अपने कई साथियों को ही गिरते हुए आप नहीं देखते, बल्कि जानते-अजानते खुद भी उनमे उलझ-उलझ कर गिरते रहते हैं। इन्ही जालों को काटते जाना जीवन का उद्देश्य बन जाना चाहिये और यही समता की साधना का मार्ग है, क्योंकि जहाँ-जहाँ से अधेरा मिटेगा, वहाँ वहाँ प्रकाश का फैलते जाना अनिवार्य है। विषमताओं को काटने का अर्थ ही यह होगा कि वहाँ-वहाँ आत्मीय समता का प्रसार सुगम होता जायगा।

समता-समाज के साधकों को अपने जीवन-क्रम मे इसी उद्देश्य को सर्वोपरि रखना होगा। वे एक क्षण के लिये भी न भूले कि वे अपने मन, वचन या कार्य से किसी भी रूप मे विषमता पैदा करने वाले न बनें—उन्हे तो स्वय सम वन कर प्रत्येक स्थान से विषमना को नष्ट करनी है और समता की सम दृष्टि पनपानी है। विषमता से सघर्ष--उनकी , वाणी और कृति का शृंगार वन जाना चाहिये।

व्यक्ति और समाज का समन्वित स्वर

यह आन्दोलन—यह सघर्ष व्यक्ति और समाज के समन्वित स्वर से उठना और चलना चाहिये। व्यक्ति समाज की ओर दौडे तथा सारा समाज एक-एक व्यक्ति को गले लगावे—तब ऐसे सहज समन्वय का स्वर मुखर हो सकेगा। व्यक्ति और समाज इस आन्दोलन के साथ एक दूसरे की प्रगति के अनुपूरक बनते रहेगे और समता की ऊँचाइयों पर चढते रहेगे। व्यक्ति व्यक्ति से समाज बनता है और समाज व्यक्ति से अलग नहीं, फिर भी दोनो शक्तिया जब एक दूसरे की सहायक होकर चलेगी तभी अन्दर-बाहर की सच्ची समता भी प्रकट होकर रहेगी। जितनी विषमता है, वह व्यक्ति के स्वार्थ के गर्भ से जन्म लेती है और जितने अशों मे स्वस्थ रीति से इस स्वार्थ का सफल समाजीकरण कर दिया जाय उतने ही अशों मे विषमता की मात्रा घटेगी और व्यक्ति एव समाज का समन्वय बढेगा—यह स्वाभाविक प्रक्रिया है।

समता समाज इस लक्ष्य की ओर अग्रसर बने कि व्यक्ति के सत्ता और सम्पत्ति के स्वार्थों पर अधिक से अधिक स्वैच्छिक नियत्रण किया जाय जो भावनात्मक हो एव जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ सामाजिक नियत्रण प्रणाली द्वारा व्यक्ति के स्वार्थ के भूत को फैलने न दिया जाय। अपने ही सदस्यों के माध्यम से यदि समता-समाज इस लक्ष्य को पकड सका तो यह सन्देहरहित भविष्यवाणी की जा सकती है कि समता-समाज की सर्वोच्च उन्नति होकर रहेगी।

क्रान्ति का चक्र और कल्याण

कल्पना करें कि किसी भी टिकट-खिडकी के बाहर अगर लोग पूरे अव्यवस्थित रूप से टिकट लेने के लिये टूट पडे तो भला कितने और कौन लोग टिकट ले पायेंगे? वे ही तो जो शरीर से, बल से या किसी तरह ताकतवर होंगे—कमजोर तो बेचारा भीड़ मे पिस ही जायगा। तो

आज के विषम समाज की ऐसी अव्यवस्था से तुलना की जा सकती है जहा सत्ता और सम्पत्ति को लूटने की मारामारी मची हुई है। जो न्याय से नही, नीति से नही बल्कि अन्याय और अनीति से लूटी जा रही है। इस दुर्व्यवस्था मे दुर्जन आगे बढकर लूट का सरदार बन जाता है तो हजारो सज्जन नीति और न्याय के पुजारी होकर भी विवश खडे देखते रह जाते है।

टिकिट खिडकी के बाहर ऊपर उचकने वालो को समझा बुझा कर, उनकी बाहे पकड कर एक 'क्यू' मे खडा कर देने का जो प्रयास है, उसी को समाज के क्षेत्र मे क्रान्ति का नाम दे दिया जाता है। सारी भीड उमडे नही, अपनी-अपनी बारी से हरएक को टिकिट मिल जाय यह ऐसी क्रान्तिपूर्ण व्यवस्था का ही फल हो सकता है। मानव समाज मे अपराधो मिटें, विषमता कटे और सभी मानव न्याय और नीति का फल प्राप्त करें—यही क्रान्ति का उद्देश्य हो सकता है।

क्रान्ति का चक्र यदि योजनाबद्ध रीति से घुमाया जाय तो निस्सन्देह वह विषमता को काटेगा भी सही तो समता की रक्षा भी करेगा। इस चक्र को जन-कल्याण का चक्र कहा जा सकता है। समता-समाज का यही आभास होना चाहिये कि वह अपनी सशक्त गति से क्रान्ति के चक्र को पूरे वेग से घुमावे ताकि नये समाज की नई धारणाएँ और परम्पराएँ जन्म लें तथा उन्हे निर्वहन करने-कराने वाली नई पीढी का निर्माण किया जा सके।

मूल्य बदलें और मूल्य बनें

मानव समाज के विभिन्न संगठनों का संचालन किन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर होता है तथा ये ही सिद्धान्त जब कार्यान्वयन मे आते हैं तो उनमे जिन परम्पराओ का निर्माण होता है, उन्हे ही सामाजिक मूल्यो के रूप मे देखा जाता है। ये मूल्य समाज के पथ-प्रदर्शक होते हैं और [illegible] निर्माण मे महान् पुरुषों का दिशा निर्देशन भी होता है। ये

मूल्य जबतक विकारग्रस्त नहीं होते, इनके आधार पर चलने वाले व्यक्तियों के जीवन एक निश्चित लक्ष्य की ओर ही बढते है और वह दिशा सामाजिक उत्थान की दिशा होती है।

किन्तु काल-प्रवाह मे एक बार बने ऐसे मूल्य जब विकारग्रस्त होकर जडता ग्रहण करने लगते हैं और जब उनमे प्रेरणा की शक्ति मूर्छित होने लगती है तब उन मूल्यों को बदल डालने की एक महती आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी ऐसी विडम्बना भी होती है कि विकृत मूल्यों को नष्ट करने का क्रम तो चल पडता है किन्तु उनके स्थान पर नवीन मूल्यों की रचना नहीं हो पाती है तब एक अराजकता की सी स्थिति होने लगती है। इससे बचने का यही सही उपाय होता है कि पुराने मूल्य बदलें और उनके स्थान पर नये मूल्य बनते जावें। इसमे यह याद रखना चाहिये कि सब पुराना गलत नहीं होता और सब नया सही नहीं होता। इसमे हंसवत् विवेक होना चाहिये कि कौन से पुराने मूल्यों मे भी नई सृजन शक्ति भरी हुई है तथा कौन से नये मूल्य नये होने पर भी सजीव नहीं हैं ? मूल्य बदलें और मूल्य बनें—इस क्रम मे यह विवेक सतत जागृत रहना चाहिये और विशेषरूप से समता-समाज जैसे सगठन के लिये तो यह अत्यधिक जागृति का विषय होना चाहिये कि मूल्य बदलने और मूल्य बनाने का कार्य शुद्ध रचनात्मक दृष्टिकोण से हो।

विनाश और सृजन का क्रम

मूल्य बदलना विनाश का पक्ष है और मूल्य बनाना सृजन का पक्ष। विकृत को नष्ट करना अनिवार्य है और उसी की पृष्ठभूमि पर नये सृजन की आधारशिला रखी जाती है। जैनदर्शन ने इस क्रम को सर्वोच्च स्तर तक स्वीकार किया है। आत्मा जब परमात्मा के स्वरूप की ओर बढ़ती है तो उसका पहला चरण विनाश का होता है। पहले चरण को सफल बनालेनेवाला अरिहन्त कहलाता है। जो अरियों—शत्रुओ को

नष्ट करदे—वह अरिहन्त। यह विनाश व्यक्तियो से सम्बन्धित नहीं होता—विकारो से सम्बन्धित होता है। मिलावटी सोना होने पर कोई सोने को नही फैंकता बल्कि उसके मैल को कडी से कडी विधि द्वारा निकाल कर सोने को शुद्ध रूप दिया जाता है। वैसे ही व्यक्तियों के विनाश का जो सिद्धान्त-निर्देश देता है, वह भ्रामक होता है। विकृत से विकृत व्यक्ति हो—उसकी विकृति को निकाल कर व्यक्ति को शुद्ध रूप प्रदान करना ही किसी भी श्रेष्ठ सिद्धान्त का लक्ष्य होना चाहिये। कही भी विकृति हो—विषमता हो—उससे सघर्ष करना और उसे नष्ट करना—यह उत्थानकामी जीवन का पहला चरण होना चाहिये।

तब दूसरा चरण सृजन का प्रारम्भ होता है। जो अरिहन्त होकर ऊँचे आदर्शों को अपने जीवन मे उतार कर उसका प्रकाश सारे ससार मे फैलाता है, वही सिद्ध बनता है। जो साधले सो सिद्ध, और सिद्ध सृजन की सफलता का प्रतीक होता है। विनाश और सृजन—सघर्ष और निर्माण—ये दोनो जीवन के रचनामूलक पहलू होते है। समता-समाज को भी इन्ही पहलुओं को हृदयगम करके निर्माण की नई दिशा मे आगे बढना होगा।

जीवन के चहुँमुखी विकास में समता

विषमता के मूल-स्वार्थ पर जितना नियत्रण—जितना आघात सफल बनता जायगा, क्या तो व्यक्ति के जीवन मे और क्या सामाजिक जीवन मे—उतने ही अशों मे विषमता का विनाश भी सभव हो सकेगा। बाहर का परिग्रह घटेगा तो अन्दर की ममता भी घटेगी। ममता घटेगी और समता बढेगी। समता होगी तो अनासक्ति भाव का प्रसार होगा—फिर बाहर के सामाजिक जीवन मे परिग्रह की आवश्यलता तो होगी, उसका उपयोग भी किया जायगा, किन्तु उसके प्रति लोभ नही होगा—र्थ नहीं होगा और सग्रह की कुटिल वृत्ति भी नही होगी तो फिर

भला किसी भी प्रकार की विषमता जीवन की सहज समता को कैसे अपरूप बना सकेगी ?

जीवन के चहुमुखी विकास मे विषमता के अवरोध जब विनष्ट हो जायेंगे तो समता की सर्वजन हितकारी भावना से ओतप्रोत होकर मनुष्य अपने विकास मे सम्पूर्ण समाज के विकास को ही प्रतिबिम्बित करेगा। तब व्यक्ति के विकास से समाज का विकास पुष्ट होगा तो समाज के विकास से व्यक्ति का विकास सरलता से पूर्णता प्राप्त कर सकेगा। इस चहुँमुखी विकास की सशक्त कडी सिर्फ समता ही हो सकती है।

सर्वरूपी समता

यह समता एक रूपमे नहीं, सर्व रूप मे स्थापित की जानी चाहिये। जीवन के जितने रूप हैं—बाहर के और अन्तर के, उन सब रूपो मे समता का समावेश होना चाहिये। विषमता वैसी आग है जो यदि एक क्षेत्र मे भी बिना बुझाये छोड दी जाय तो वह वहाँ से फैलकर दूसरे क्षेत्रों मे भी प्रवेश करने लगेगी। इस कारण यह आवश्यक है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में, कार्य-कलापो एव विधि उपायो मे समतामय प्रणाली की प्राण-प्रतिष्ठा होनी चाहिये।

बाह्य जीवन की दृष्टि से देखें कि राजनीतिक क्षेत्र मे समान मताधिकार से समता कायम करली, किन्तु आर्थिक क्षेत्र मे विषमता है तो उसका क्या परिणाम होता है—यह आज चारों ओर देखने को मिल सकता है। मत सभी का समान होता है, किन्तु जो आर्थिक दृष्टि से सशक्त होता है, वह कितने ही मतों को अपने लिये खरीदकर राजनीतिक समता की धज्जियाँ उडा देता है। उसी तरह बाह्य जीवन मे समता की स्थितियाँ, कल्पना करें कि बना भी ली जाय किन्तु अन्तर्मन विषमता से भरा हो तो वह बाहर की समता कब तक टिकी हुई रह सकेगी ? वासनाएँ और लालसाएँ जब आक्रामक होकर अन्तर्मन पर टूटेंगी, तब बाहर की समता का कच्चा आवरण भी फट जायगा।

इसी कारण समता सर्वरूपी बननी चाहिये। अन्दर के जीवन मे पहले समता आवे और वही जब बाहर के जीवन के विविध रूपों मे फूटे तो वह समता भी स्थायी रह सकेगी और फलवती भी बन सकेगी। सभी ठौरो पर समता का प्रवेश हो जबतक ऐसा न हो—विपमता के विनाश का कार्य चलता रहे। सभी स्थानों से विषमता का विनाश और फिर सभी स्थानो पर समता की स्थापना—यह क्रम साथ-साथ चलता रहना चाहिये।

सर्व-व्यापी समता

सर्वरूपी समता सर्वव्यापी भी बननी चाहिये। जीवन के सभी रूपों मे समता ढले किन्तु अगर वह सभी जीवनो मे नही ढले तो समता का सामूहिक चित्र साकार नही हो पायगा और इसके बिना समता का सर्वव्यापी बन पाना भी सभव नही होगा। सर्वव्यापी समता को जीवन के स्थूल स्थानों से लेकर सूक्ष्म स्थानो तक प्रवेश करना होगा। अन्तर्मन यदि समता के मूल्यो को गहराई से धारण कर ले तो राजनीति, अर्थ या समाज का क्षेत्र हो—उनमे समता की प्रतिप्ठा करने मे अधिक कठिनाई नही आवेगी, किन्तु अगर मनुष्य का अन्तर्मन ही स्वार्थ और विकार मे डूबा हो तो समता के स्थूल क्षेत्रो मे परिवर्तन काफी टेडा और कठिन होगा।

यही कारण है कि आन्तरिक विषमता को मिटाने का पहले निर्देश किया जाता है। किसी भी सामूहिक कार्य का सफल श्रीगणेश भी उसी अवस्था मे किया जा सकता है, जब कुछ ऐसे लोग तैयार होते है जो अपने अन्तर की विषमता को घटा कर समता का सन्देश लेकर आगे बढते है। साथ मे यह भी सत्य है कि ऐसे लोग किसी भी सगठन अथवा आन्दोलन के जरिये जिस वातावरण का निर्माण करते है, वह भी अन्य व्यक्तियों की जागृति का कारणभूत बनता है। तो कुछ लोगो को आन्तरिक समता बाहर की समता-स्थापना मे योग देती है तो वह

स्थापित बाहर की समता भी अन्य व्यक्तियों की आन्तरिक समता को जगाती और प्रबुद्ध बनाती है। सर्व-व्यापी समता की ऐसी ही परस्पर प्रक्रिया होती है।

समता-समाज को इस बिन्दु को ध्यान मे रखते हुए अपने कार्यक्रमो मे आन्तरिक विषमता को घटाने व मिटाने के अभियान को प्राथमिकता देनी चाहिये ताकि आन्तरिक समता-धारियों की एक सशक्त अहिंसक सेना तैयार की जा सके, जो अमित निष्ठा के साथ बाह्य समता की स्थापना मे जूझ सके और उसका वह जूझना न सिर्फ बाह्य समता की स्थापना को यत्र तत्र और सर्वत्र सकार रूप दे बल्कि वह बहुसख्यक लोगो की आन्तरिक समता को भी प्राणवान् बनावे।

समता से सुख, समृद्धि और शान्ति

सर्वरूपी और सर्वव्यापी समता जिस व्यक्ति व समाज के जीवन मे घुसती और छा जाती है, वहाँ सुख, स्मृद्धि और शान्ति का निर्झर प्रवाहित होने लगता है। वह जीवन आनन्दमग्न ही नही बनता, परमानन्द मे लीन हो जाता है।

यह सुख कैसा—स्मृद्धि और शान्ति कैसी ? इन शब्दो को साधारण रूप से जिन अर्थों मे समझा जाता है, समता के क्षेत्र मे वे प्राप्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। सत्ता व सुख भी मिलता है, सम्पत्ति की स्मृद्धि भी मिलती है तथा भौतिक सुखो की शान्ति भी मिलती है, किन्तु समता-धारी ऐसे सुख, स्मृद्धि और शान्ति की छलना को समझ जाता है—इस कारण इनसे उपेक्षित होकर वह अपना रूख सच्चे सुख, सच्ची स्मृद्धि और सच्ची शान्ति की ओर मोड लेता है। जो बाहर की स्मृद्धि और शान्ति है, वह नश्वर होती है तो उनमे आन्तरिकता को आनन्दमग्न करने की भी स्थिति नहीं होती। यह रात दिन के अनुभव की बात है कि बाहर का कितना ही सुख हो किन्तु अन्दर मे अगर क्लेश और

चिन्ता की आग सुलगती हो तो क्या वह बाहर की सुख सामग्री वास्तविक सुख दे सकती हैं ? इस कारण जो अन्तर का सुख मिलता है, वही सच्ची शान्ति भी प्रदान करता है और ऐसी शान्ति को प्राप्त करने वाला ही वास्तव मे स्मृद्ध कहलाता है।

तो समता की साधना से जो सुख मिलता है वह दूसरों को सुख देने से मिलता है, इसलिये सच्चा और स्थायी होता है। इसी समताभरे सुख से जो स्मृद्धि और शान्ति का निर्झर बहता है, उसमे जो जीवन डुबकियाँ लगाता है, वही जीवन कृतकृत्य एव धन्य हो जाता है।

समता-साधक का जीवन धन्य होगा ही

अन्त मे यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि जो समता की साधना करेगा, उसका स्वय का जीवन तो धन्य होगा ही किन्तु वह समाज के जीवन को भी धन्य बनायगा।

समता समाज के साधकों के लिये यह ऊँचा लक्ष्य प्रकाशस्तभ का काम दे और वे जीवन के सभी अन्दर बाहर के क्षेत्रों मे समता का प्रसार करें—यह वांछनीय है। जो क्रान्ति की मशाल को अपने मजबूत हाथों मे पकड़ते हैं, वे उस मशाल से विकृति को जलाते हैं तो प्रगति की दिशा को प्रकाशित करते हैं। समता को मजिल इसी मशाल की रोशनी मे मिलेगी।